NOTES ON

कबीर काव्य कौस्तुभ

(*Dr. Bal Mukand*)

By

EXPERIENCED PROFESSORS

Publishers :—

शंकर प्रकाशन

वाराणसी (बनारस)

Price Rs. [illegible]-00

पद-टीका

(१)

दुलहिनीं गावहु मंगलचार।
हमारे घरि आये हो राजा राम भरतार। टेक॥
तन रत करि मैं मन रति करिहूं पंच तत बराती।
राम देव मोरैं पाहुनैं आये मैं जौबन मैं माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सगि भांवरि लैहूं धनि-धनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूं कौतिग आय, मुनियर सहस ८ठ्यासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चलेहैं, पुरिष एक अबिनासी॥

शब्दार्थ—दुलहिनीं - विवाहित सधवा स्त्रियां। मंगलचार= विवाह-संस्कार के मंगलमय गीत। भरतार = पति। रत = अनुरक्त। रति = प्रेम। पंचतत = पांच भौतिक तत्त्व—पृथ्वी, आकाश, वायु, जल एवं अग्नि। पाहुनें = अतिथि। भांवरि = विवाह के समय पति-पत्नी द्वारा की जाने वाली अग्नि की परिक्रमाएं। कौतिक - कोटिक, करोड़। मुनियर - मुनिवर, मुनिश्रेष्ठ।

भावार्थ- इस पद में कबीरदास जी परमात्मा से अपने आध्यात्मिक मिलन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे सौभाग्यवती स्त्रियों, तुम लोग विवाह के मंगलमय गीतों को गाओ क्योंकि आज हमारे घर पर परम प्रभु रामचन्द्र जी पति के रूप में आये हैं। इस समय मैं अपने शरीर से अपने पति में पूर्ण रूप से अनुरक्त होकर उनसे अन्तस्तल तक से प्रेम करूंगी। मेरे पति के साथ धरती, आकाश, जल, वायु और अग्नि ये पाँचों भौतिक तत्त्व बराती होकर आए हैं। आज परम प्रभु श्रीरामचन्द्र जी (जैसे परमश्रेष्ठ व्यक्ति) मेरे अतिथि होकर आये हैं। इस समय मैं यौवन के मद से ओत-प्रोत हूं अर्थात् प्रभु की भक्ति मेरी

नस-नस में व्याप्त है। मैं इस समय अपने शरीर रूपी सरोवर की यज्ञ-वेदी बनाऊंगी और (इस विवाह के यज्ञ के लिये) ब्रह्मा जी वेदों का उच्चारण करेंगे। इस प्रकार मैं महाप्रभु रामचन्द्र जी के साथ विवाह की भांवरें फिरूंगी। मेरे भाग्य निश्चित रूप से ही धन्य हैं। हमारे इस महामिलन को देखने के लिये इस समय तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हज़ार मुनिश्रेष्ठ आये हुये हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि इस रूप में हम को एक अविनाशी अव्यक्त परम-पुरुष परमात्मा विवाह करके ले जा रहे हैं।

स्पष्टीकरण—मनुष्य की आत्मा का परमात्मा में मिलन एक प्रकार का सांसारिक विवाह सा ही है। जिस प्रकार की प्रक्रियाएं सांसारिक विवाह में होती हैं उसी प्रकार की प्रक्रियाएं आत्मा-परमात्मा के सम्मिलन में भी होती हैं। जिस अवस्था में साधक इस संसार में पूर्णतः विरत होकर परम-प्रभु में ही लीन हो जाता है उस अवस्था में उसे परमानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होने के समय साधक के हृदय में भी उसी प्रकार का चाव होता है जिस प्रकार का चाव किसी दुल्हिन के मन में विवाह के अवसर पर अदूरवर्ती भविष्य में होने वाले पति-मिलन के लिये होता है। इस पद में कबीरदास जी भी इसी प्रकार की प्रसन्नता की अभिव्यक्ति कर रहे हैं।

विवाह के अवसर पर सौभाग्यवती स्त्रियां मांगलिक गीत गाती हैं। कबीरदास जी भी अपनी आत्मा के परमात्मा से होने वाले मिलन को भव्यता से मनाने हेतु उसी प्रकार के मांगलिक गीत गववाना चाहते हैं। घर पर कोई साधारण अतिथि आए तो भी प्रसन्नता स्वाभाविक है किन्तु यदि कहीं कोई महापुरुष ही अतिथि (वर भी एक विशिष्ट अतिथि ही होता है) बन कर आए तब तो कहना ही क्या है। रामचन्द्र जी से अधिक महान् और कौन हो सकता है। इसीलिए ऐसे समय पर कबीरदास जी की आत्मा का पूर्ण रूप से उनके प्रेम से निमग्न हो

उठना स्वाभाविक है।

विवाह के समय कुछ बराती भी आते हैं जो वस्तुतः इस सामाजिक बन्धन के साक्षी रूप होते हैं। कबीरदास जी के इस महामिलन के अवसर पर भी पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि एवं वायु—ये पांच तत्त्व जिनसे मानव-शरीर का निर्माण होता है—बराती बन कर मानों साक्षी देने आए हैं। इस महामिलन में शरीर ही यज्ञ की वेदी है। महाप्रभु रामचन्द्र जी के विवाह में स्वयं ब्रह्मा ही वेद-मन्त्रों का उच्चारण करेंगे। किसी बड़े आदमी के साथ विवाह होना बधू के भी सौभाग्य का प्रतीक होता है इसीलिए कबीरदास जी इस समय अपने भाग्य को भी धन्य बतला रहे हैं क्योंकि उनकी आत्मा रूपी दुल्हिन को रामचन्द्र जी रूपी वर के साथ भांवरें लेनी होंगी। कोई बड़ा विवाह होता है तो सारे शहर के लोग उस विवाह को देखने आते हैं। यहां महाप्रभु के विवाह को भी देखने के लिए तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हज़ार मुनि आए हैं। इस प्रकार इतने धूम-धड़क्के से कबीरदास जी की आत्मा का परमात्मा से मिलन सम्पन्न होता है।

विशेष—दाम्पत्य भावना के प्रतीकों द्वारा कबीरदास जी ने इस पद में अपने प्रेम की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है।

---

(२)

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कंवल मन मानियां, और न भावै मोहि रे।।टेक।।
षट दल कवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
दहुं के बीचि समाधियां, तहां काल न पासै आइ रे।।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तहां श्री रंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तो पाइये, नहीं तो जन्म अक्यारथ जाइ रे।

कदली कुसुम दल भीतरा, तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मीच रे ॥
बक नालि कै अन्तरै, पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए, तहां भंवर गुफा के घाट रे ॥
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहां न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे ॥
गगन गरजि मघ जोइए, तहां दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरिषि है; तहां भीजत हैं सब संत रे ॥
षोडस कंवल जब चेतिया तब मिलि गए श्री बनवारी रे।
जुरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे।
गुर गमि तैं पाईए, झषि मरे जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे ॥

शब्दार्थ— बीठुला = महाप्रभु बिट्ठलनाथ जी। षट दल कंवल = छः पंखुड़ियों वाला कमल अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र। अष्ट कंवल = आठ पंखुड़ियों वाला कमल अर्थात् सुरति कमल। श्रीरंग - रंग जी, ईश्वर। केलि = क्रीड़ा। कदली = कदली तुल्य रीढ़ की हड्डी। दुवादस = बारह पंखुड़ियों वाला कमल अर्थात् अनाहत चक्र जो हृदय के पास स्थित है। नीझर = अमृत का स्रोत। भंवर गुफा = सहस्रार चक्र। सुरति = परम तत्त्व का साक्षात्कार। मघ = आनन्द, हर्ष। बिजुरी चमकि = अनन्त प्रकाशगत परमात्मा की ज्योति रूपी विद्युत। घन = अनहदनाद। दीसै = दिखाई देते हैं। षोडस कंवल = सोलह पंखुड़ियों वाला कमल अर्थात् विशुद्धाख्य नाम का चक्र जो कण्ठ के पास स्थित है। झंषि = प्रयत्न।

भावार्थ—हठयोगियों के सिद्धान्तानुसार अपनी साधना का वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि हे मन को मोहित करने वाले

महाप्रभु विट्ठलनाथ जी, मेरा यह मन तो आप में ही पूरी तरह लगा हुआ है। मेरे मन को तो अपने चरण रूपी कमल ही अच्छे लगे हैं। (और यह वहीं बस गया है) अब तो मुझको कोई भी और अच्छा नहीं लगता है। छः दलों वाले कमल अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र में मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को पहुंचाने के लिये समाधि लगाने पर भला मृत्यु फिर किस प्रकार पास आ सकती है अर्थात् इस प्रकार की समाधि लगा लेने पर मृत्यु हमेशा के लिए टल जाती है। आठ पंखुड़ियों वाले कमल अर्थात् सुरति कमल में महाप्रभु रंग जी क्रीड़ा करते हैं। यदि किसी साधक को सच्चा गुरु प्राप्त हो जाय तो उसे रंग जी भी मिल सकते हैं अन्यथा तो उसका सारा जीवन निष्फल ही रहता है। कदली वृक्ष के समान रीढ़ की हड्डी के बीच नाड़ियों का जो जाल फैला हुआ है उसमें मूलाधार चक्र से अनाहत-चक्र के बीच की दूरी केवल दस अंगुल की है। यहीं पर द्वादश दल वाले कमल की खोज कर लेने से अर्थात् मन को साधना द्वारा यहां तक ले आने पर साधक का जन्म होता है मृत्यु नहीं। कहने का भाव यह है कि इस स्थान की प्राप्ति कर साधक को उसका प्राप्तव्य मिल जाता है और फिर उसे मरण के दुःख का सामना नहीं करना पड़ता।

इसके उपरान्त कबीरदास जी साधना की अगली कड़ी का वर्णन करते हुये कहते हैं कि यदि साधक की सुषुम्ना ऊपर जाकर बाईं ओर को विस्फोट करे तो वहां पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र से अजस्र रूप से रस का प्रक्षरण होता है। साधक को इस रस को तृप्ति-सहित पीना चाहिये। जब साधक को इस स्थान की प्राप्ति हो जाती है तो उसको त्रिवेणी-स्नान का सा पुण्य-लाभ होता है। कहने का भाव यह है कि इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना का पूर्ण समन्वय होने पर ही साधक को इस स्थान की उपलब्धि होती है। इस स्थान की प्राप्ति होने पर ही साधक का

ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम होता है। यहां पहुंच कर साधक को फिर से संसार की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं रहती और उसका सनक मुनि आदि से मिलन हो जाता है जो पहले से ही मुक्त हो चुके हैं। कहने का भाव यह है कि उस समय साधक इस संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

उस समय वहां पर साधक को अनहद नाद के द्वारा मेघ-गर्जन का सा सुख प्राप्त होता है और अनन्त तारों वाले परब्रह्म के स्वरूप का दर्शन होता है। वहां पर अनन्त ज्योतिष्मान परमात्मा का प्रकाश होता रहता है और सारी मुक्त आत्मायें वहां प्रस्रवित होने वाले अमृत से स्नान करती रहती हैं। जब साधक सोलह दलों वाले विशुद्ध चक्र की साधना कर लेता है तब उसका परमप्रभु श्री बनवारी से तादात्म्य हो जाता है। उस समय उसका बुढ़ापे अथवा मरण का भी सारा भ्रम दूर हो जाता है और फिर से जन्म लेने का झंझट भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति गुरु के पास जाने से उनकी कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है और बिना उसके चाहे कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। कबीरदास जी कहते हैं कि वह तो स्वयं इसी स्थान में रमण कर रहे हैं और इस पद को उन्होंने सहज समाधि के द्वारा ही प्राप्त किया है।

---

(३)

नरहरि सहजें ही जिनि जांनां।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांनां ॥टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससि हरि सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥

उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेरु-डंड सरपूरा।
गगन गरज़ि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा॥
सुगति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं।
पद आनंद काल थैं छूटैं, सुख मैं सुरति, समांनीं॥

शब्दार्थ—अंकूर वीज = विषय-वासनाओं के बीज और अंकुर। गुरगमि = गुरु के पास जाने से। लागी जोग जग तारी = साधक योग की साधना में प्रवृत्त हो गया। सुंनि = ब्रह्मरन्ध्र। तूरा = तुरही, नाद। त्रिकुटी = दोनों भौंहों के बीच का भाग।

भावार्थ—सहज साधना का महत्त्व बताते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि जिन लोगों ने सहज-साधना के द्वारा महाप्रभु को जान लिया है उनके सांसारिक विषय-वासनाओं के अंकुर और बीज समाप्त हो जाते हैं और उन्हें इस संसार रूपी वृक्ष के फल-फूल एवं पत्तों आदि से रहित वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति हो गई है। गुरु के पास जाने से उसके सुन्दर उपदेश से ज्ञान का प्रकाश हो गया और ब्रह्म की अग्नि साधक के हृदय में प्रज्वलित हो गई। इस प्रकार इस ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से साधक के हृदय का कोना-कोना प्रकाशित हो उठा और वह योग की साधना में प्रवृत्त हो गया। इसके अनन्तर उसने अपनी कुण्डलिनी को जागृत करके प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ऊपर की ओर ले जाते हुये मूलाधार आदि छः चक्रों का भेदन किया। इस प्रकार साधक ने अपनी कुण्डलिनी को सहस्रार चक्र में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट कराया जिससे अमित आनन्द प्रदान करने वाला अनहदनाद उसको सुनाई देने लगा। इस प्रकार कबीरदास जी अपनी सद्बुद्धि द्वारा सोच-विचार करके कहते हैं कि शरीर की त्रिकुटी अर्थात भौंहों के मध्यवर्ती स्थान में ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य सुखपूर्वक सुरति का परिचय प्राप्त कर लेता है

और इस रूप में परम आनन्द का लाभ करता हुआ वह मरण के भय से मुक्त हो जाता है।

विशेष—कबीरदास जी के कहने का भाव यही है कि हठयोग-निर्दिष्ट साधनाओं द्वारा साधक को सहज में ही परम प्राप्तव्य की प्राप्ति हो जाती है।

उलटे पवन चक्र-षट बेधा —साधक को मूलाधार चक्र के नीचे अवस्थित कुण्डलिनी को जागृत कर, इडा एवं पिंगला को अवरुद्ध करके, सुषुम्ना मार्ग से उसे एक के ऊपर एक स्थित मूलाधार अधिष्ठान आदि छहों चक्रों का भेदन करना होता है। इस समय प्राण-वायु सहित कुण्डलिनी नीचे से ऊपर को चलती है इसीलिये पवन अर्थात् प्राणवायु को उल्टे प्रवाहित होना कहा गया है।

गगन गरजि मन सुंनि समांनां—कुण्डलिनी द्वारा छहों चक्रों का भेदन कर जब मस्तक में स्थित सहस्रार चक्र में जीवात्मा पहुंचती है तब वहां उसे अनहदनाद सुनाई देने लगता है। नाथपंथी धारणा के अनुसार सहस्रार में स्थित गगनमंडल में औंधे मुंह का अमृत कुण्ड है। यहां उसी गगनमंडल के गरजने का कथन किया गया है।

त्रिकुटी संगम स्वामी—दोनों भौंहों के बीच के स्थान को त्रिकुटी कहते हैं। यहीं आज्ञाचक्र की अवस्थिति है। आज्ञाचक्र में ध्यान लगाने से ही साधक को परम तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

———

(४)

अवधू ग्यान लहरि धुनि मांडी रे।

सबद अतीव अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णा षांडी ॥टेक॥

वन कै ससै समंद घर कीया मंछा बसै पहाड़ी।

सुड पीवै बांम्हण मतवाला, फल लाया बिन बाड़ी॥

पाण बुणै कोली मैं बैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी ।
तांणैं बांणैं पड़ी अनवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, आगम ग्यान पद मांहीं ।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै, हस्ती आवैं जांहीं ॥

शब्दार्थ—अवधू = अवधूत । राता = अनुरक्त हो गया । षांडीं = खंडित की, नष्ट की । वन कै ससै = संसार रूपी वन में बसने वाला अर्थात् रमण करने वाला चंचल मन रूपी खरगोश । **समंद** = शून्य रूपी समुद्र । मंछा = मछली रूपी जीवात्मा । पहाड़ी = शून्य-शिखर । बाड़ी = खेत, क्यारी । पाण = थान, वस्त्र । कोली जुलाहा । खूंटा और गाढ़ी = बुनाई में काम आने वाले विशेष उपकरण । तांणैं-बांणैं = ताने-बाने । नांकै = नकुआ, छेद ।

भावार्थ कबीरदास जी कहते हैं कि हे अवधूत ! (गुरु की कृपा से) ज्ञान की लहर उठने पर साधक (ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए) समाधि में लीन हो गया । उस समय उस की सारी चित्तवृत्तियां अनाहद नाद के आनन्दमय शब्द में रम गईं और इस प्रकार उसकी संसार के प्रति समस्त तृष्णा समाप्त हो गई । इस के परिणामस्वरूप ससार रूपी वन में विचरण करने वाले खरगोश रूपी मन ने शून्य-समुद्र में अपना घर बना लिया और आत्मा रूपी मछली शून्य-शिखर पर जाकर रहने लगी । इस प्रकार से मुक्तात्मा रूपी ब्राह्मण वहां पर स्रवित होने वाले अमृत का पान करके मदमस्त हो गया । इस रूप में बिना खेती किए हुए ही कृषक को अनुपम फल की प्राप्ति हो गई । कहने का भाव यह है कि बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के ही साधक को परम तत्त्व रूपी फल की प्राप्ति हो गई । अपनी आत्मा का जुलाहिन के रूप में वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि मेरी आत्मा रूपी जुलाहिन बैठी हुई अपने कर्म रूपी वस्त्र का थान बुन रही है और इस

बुनने की प्रक्रिया में वह स्वयं ही खूंटा और माड़ी (बुनाई के उपकरण) बनी हुई है। वह आत्मा रूपी जुलाहिन विविध भांति के कर्मों रूपी सूतों के ताने-बाने डाल कर इस सुन्दर वस्त्र का निर्माण कर रही है। यह सूत ही उस आत्मा रूपी जुलाहिन को गाढ़ा-गाढ़ा वस्त्र बुनने के लिए अर्थात् सत्कर्म करने के लिए प्रेरित कर रहा है। कबीरदास जी कहते हैं कि हे सन्तो, सुनो यह ज्ञान का पद वैसे तो सब प्रकार से अगम्य ही है किन्तु जिस प्रकार ईश्वर की कृपा से सुई के छेद में से हाथी भी आ सकता है उसी प्रकार गुरु की कृपा से यह ज्ञान-पद भी सहज में ही प्राप्त हो सकता है।

विशेष—१. गुरु की कृपा पर ऐसी अगाध श्रद्धा को कुछ लोग अन्ध-विश्वास की श्रेणी में रख सकते हैं किन्तु कबीरदास जी तो अन्ध-विश्वासों के प्रबल विरोधी थे। वस्तुतः कबीरदास जी का यह गुरु के महात्म्य का प्रदर्शन ही है किसी प्रकार का अन्धविश्वास नहीं।

२. यह पद कबीरदास जी की एक प्रसिद्ध उलटबासी है। इसमें अनेक अलंकारों का अनायास प्रयोग हो गया है जो इस प्रकार है :—

विभावना, रूपक, अन्योक्ति आदि।

(५)

सन्तों भाई आई ग्यांन की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बांधी ॥टेक॥
हिति चत की द्वै थूंनी गिरांनीं, मोह बलीडां तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा॥
जोग जुगति करि सन्तौं बांधी, निरचू चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणीं॥
आंधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भांनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटै उदित भया तम षीनां॥

शब्दार्थ - टाटो = टट्टी, छप्पर। हिति = प्रेम। थूनी = छप्पर को रोकने के लिए लगायी जाने वाली एक प्रकार की टेक। बलींडा = छप्पर को मज़बूत बनाने के लिये उसके सिरे पर फूंस का एक लम्बा-लम्बा डण्डा सा लगा देते हैं। यही बलींडा कहलाता है। छांनि = छावन। कुबधि = दुर्बुद्धि। भांडा = बरतन। निरचू = बिल्कुल। बूठा = प्रविष्ट हुआ, वर्षा हुई। पींनां = क्षीण हुआ।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त होने पर किस प्रकार माया का पूर्ण रूप से विलोप हो जाता है यह दिखाते हुए कबीरदास जी सन्तों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं। हे भाई साधुओ! ज्ञान की आंधी आ गई है। जिस प्रकार आंधी आने पर सब छप्पर आदि उड़ जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर सारे भ्रम दूर हो गए हैं और माया के भी सारे बन्धन समाप्त हो गये हैं—जसे प्रवल आंधी के चलने पर छप्पर को सहारा देने वाले खम्भे आदि भी टूट कर गिर जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर प्रेम एवं आसक्ति के स्तम्भ भी ढह गए हैं। मनुष्य ने माया का यह छप्पर इतने विधि विधानों से बांधा था कि उस में ज्ञान के पानी की एक बून्द भी न चू सके किन्तु जब ज्ञान उपलब्धि होने पर परमात्मा के सच्चे स्वरूप का बोध हुआ तो शरीर का सारा कूड़ा-करकट इकबारगी ही बाहर निकल गया। ज्ञान की इस आंधी के चलने के बाद प्रभु की भक्ति के जिस सुन्दर रस की वर्षा हुई उस से प्रभु के समस्त प्रेमी जन भीग गए। कबीरदास जी का कहना है कि इस प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य के उदित होने पर माया-मोह का सारा अन्धकार क्षीण हो गया।

विशेष—इस पद में कबीरदास जी ने सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त होने पर माया के विध्वंस होने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

---

(६)

अब घटि प्रगट भए रांम राईं,
सोधि सरीर कनक की नांई ।।टेक।।

कनक कसौटी जैसैं कसि लेई सुनार,
सोधि सरीर भयो तन सारा ।।

उपजत उपजत बहुत उपाई,
मन थिर भयो तबैं तिथि पाई ।।

बाहरि षोजत जनम गंवाया,
उनमनीं ध्यांन घट भीतरि पाया ।।

बिन परचैं तन कांच कथीरा,
परचैं कंचन भया कबीरा ।।

शब्दार्थ—सोधि=शुद्ध करके । थिति=स्थिति । उनमनीं= हठयोग की एक मुद्रा, जिसमें साधक प्रभु को पाने के लिए अत्यधिक आतुर हो उठता है । कथीरा=रांगा ।

भावार्थ—इस पद में कबीरदास जी कहते हैं कि विभिन्न साधनाओं के द्वारा शरीर को कंचन के समान निर्मल कर लेने पर ही अब हृदय में राजा रामचन्द्र जी प्रकट हुए हैं जिस प्रकार सुनार कसौटी पर कस-कस कर सोने को पूर्णरूप से शुद्ध कर लेता है उसी प्रकार मैंने भी योग की अनेक साधनाओं द्वारा अपने सारे शरीर को शुद्ध किया है। मैंने अपने हृदय में प्रभु रामचन्द्र जी की भक्ति उत्तम करने के लिए नाना प्रयत्न किए किन्तु जब मेरा चंचल मन पूर्ण रूपेण शान्त हो गया तभी मुझे शान्तिपूर्ण स्थिति की उपलब्धि हुई। मैंने व्यर्थ में ही प्रभु रामचन्द्र जी को अपने शरीर से बाहर इस समस्त संसार में खोजते हुए अपना सारा जन्म खो दिया किन्तु रामचन्द्र जी की उपलब्धि मुझे अपने हृदय के अन्दर ही उस समय हुई जब मैंने योग की उनमनी ध्यानावस्था से

प्रभु को आतुरतापूर्वक पाने का कठोर प्रयास किया। प्रभु रामचन्द्र जी से बिना परिचय प्राप्त किये हुये मेरा शरीर कच्चे रांगे के समान था किन्तु प्रभु रामचन्द्र जी से परिचय प्राप्त होने के उपरान्त मेरा शरीर विशुद्ध कंचन में ही परिणत हो गया है।

(७)

हिंडोलना तहां झूलै आतम रांम।

प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम ॥टेक॥

चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोर।

झूलें पंच पियारियां, तहां झूलै जीय मोर ॥

द्वादस गंम के अंतरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास।

जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास ॥

सहज सुंनि कौ नेहरों गगन मण्डल सिरिमौर।

दोऊ कुल हम आगरो, जौ हम झूलैं हिंडोल ॥

अरध उरध की गङ्गा जमुनां, मूल कंवल कौ घाट।

षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट ॥

नाद व्यंद की नावरी राम नाम कनिहार।

कहै कबीर गुंण गाइ ले, गुरु गमि उतरौ पार ॥

शब्दार्थ – हिंडोलनां = झूला। चन्द सूर = हठयोग के अनुसार चन्द्रमा पिंगला नाड़ी का और सूर्य इड़ा नाड़ी का द्योतक है। बंक नालि = सुषम्ना नाड़ी। पियारियां = ज्ञानेन्द्रियां। द्वादस गम्र = बारह आदित्य। सुंनि = शून्य। नेहरों = पीहर। दोऊ कुल = पतृ कुल एवं श्वसुर-कुल अर्थात् इहलोक एवं परलोक। आगरी = श्रेष्ठता प्रदान करेंगी, अच्छा बना लेंगी। अरध उरध = इड़ा-पिंगला नाड़ियां। मूल कंवल = मूलाधार चक्र। षट् चक्र – छः चक्र मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य एवं आज्ञा। त्रिवेणी – त्राटक, त्रिकुटी। नाद-व्यंद = नाद

एवं बिंदु । नाद का भाव है अनहदनाद, और बिंदु का वीर्य । कनिहार = केवट, खेने वाला ।

भावार्थ— कबीरदास जी कहते हैं कि प्रेम और भक्ति का झूला ही समस्त सन्त-जनों का विश्राम-स्थल होता है । कबीर दास जी की आत्मा भी उसी हिंडोले पर झूल रही है ।

यह हिंडोला इड़ा एवं पिंगला रूपी दोनों नाड़ियों के दो स्तम्भों पर पड़ा हुआ है और सुषुम्ना नाड़ी की डोर इसको सभाले हुये है । इसको पांचों ज्ञानेन्द्रिया झुलाया करती हैं और मेरी जीवात्मा इस झूले में झूला करती है । (जिस ब्रह्म-रन्ध्र में) द्वादश आदित्यों का सा प्रकाश हुआ करता है वहीं पर एक (अतुल आनन्द प्रदायक) अमृत का कुंड है । जिन साधकों ने इस अमृत को चख लिया है वे सभी हमारे गुरु हैं और हम उनके सेवक । कहने का भाव यह है कि उस अमृत का आस्वादन करने में जिनको सफलता मिली है वह निश्चित रूप से ही धन्य हैं । शून्य-शिर पर जो सहजावस्था की समाधि है वही हमारा पीहर है और गगनमंडल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र वाले सहस्रार में हमारे पति का घर है । यदि हम इस झूले में झूल लेंगी तो दोनों ही कुलों को श्रेष्ठता प्रदान करेंगी । कहने का भाव यह है कि इस झूले में झूलने पर हमारा यह लोक और परलोक दोनों ही संभल जायेंगे ।

इसी अर्थ को दूसरे रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि इड़ा और पिंगला नाम की नाड़ियां ही गंगा और यमुना नाम की नदियां हैं और मूलाधार चक्र ही घाट है । इन दोनों नदियों के मार्ग से कुंडलिनी षट् चक्रों की गागरी को उठाकर अर्थात् षट् चक्रों का भेदन करके भौंहों के बीच में स्थित त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी के संगम पर पहुंचेगी । इस संगम के मार्ग को पार करने के लिये अनहदनाद

एवं बिंदु अर्थात् वीर्य (अर्थात् ब्रह्मचर्य) की नाव होगी और राम का नाम ही इस नाव का केवट होगा। कबीरदास जी का कहना है कि भगवान् के गुणों का गान करके साधक निश्चित रूप से गुरु की कृपा से इस अगम्य मार्ग को पार कर ही जायेगा।

विशेष—इस पद में कबीरदास जी ने दो विभिन्न रूपकों द्वारा हठयोग की साधना प्रस्तुत की है।

पहले रूपक में एक झूले का वर्णन किया गया है। यह झूला प्रेम और भक्ति का झूला है। झूला किन्हीं दो स्तम्भों के बीच में डाला जाता है सो यहाँ पर इड़ा और पिंगला नाम की नाड़ियां हैं। झूले के लिये डोरी की आवश्यकता होती है जो यहां पर सुषुम्ना नाड़ी के रूप में है। झुलाने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं और झूलने वाला जीवात्मा। पांचों ज्ञानेन्द्रियां ही मानव को संसार में इधर-उधर भटका देती हैं या सत्मार्ग पर लगा देती हैं इसलिये उनको ही यहां पर झुलाने वाली कहा गया है। इसके उपरान्त इस रूपक में ब्रह्मरन्ध्र वाले सहस्रार में स्थित अनुपम अमृत कुंड का वर्णन किया गया है।

दूसरे रूपक में त्रिवेणी के संगम को पार करने के द्वारा संसार को तरने का वर्णन किया गया है। यहां इड़ा और पिंगला नाड़ियां ही गंगा और यमुना नदियां हैं और मूलाधार-चक्र घाट। कुंडलिनी उद्बुद्ध होकर मूलाधार से ही ऊपर की ओर गति करती है इसलिसे मूलाधार चक्र को ही घाट बनाया गया है। मार्ग में षट् चक्रों का भेदन ही मानों गागरी का भरा जाना है और त्रिकुटी ही मानों संगम। त्रिकुटी में अवस्थित आज्ञाचक्र अन्तिम चक्र है। इसके उपरान्त ही कुण्डलिनी सहस्रार चक्र में पहुंचती है। अतः इस चक्र को पार करना भी आवश्यक है। इसको पार करने के लिये साधक को सुनाई पड़ने वाले अनहदनाद एवं उसके वीर्य की नाद होती है और राम का नाम-स्मरण ही केवट होता

है। इस प्रकार गुणों का गान करने से ही साधक गुरु की कृपा से सिद्धि प्राप्त करता है।

(८)

मन रे जागत रहिये भाई।

गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ।।टेक।।

षट चक्र की कनक कोठड़ी, वस्त भाव है सोई।

ताला कुंची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई।।

पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतै जागत लागी।

जुरा मरण व्यापै कुछ नाहीं, गगन मंडल लै लागी।

करत विचार मनहीं मन उपजी, ना कहीं गया न आया।

कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया।

शब्दार्थ—गाफिल = असावधान, लापरवाह। वसत पूंजी। चोर = माया रूपी चोर अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि जो शरीर के पांच चोर हैं। मुसै = चुरा लेंगे, हरण कर लेंगे। ताला कुंची कुलफ के लागे = कुंडलिनी के द्वारा चक्रों का भेदन करके ऊपर जाने पर। उघड़त - रहस्य खुलने में। पंच पहरवा पांच ज्ञानेन्द्रियां। वसतै = कुण्डलिनी।

भावार्थ कबीरदास जी अपने मन को सावधान करते हुये कहते हैं कि हे भाई मन तू जागरूक रहना और असावधान होकर सो मत जाना क्योंकि तेरे से भी असावधान होते ही माया रूपी चोर अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह— ये पांचों शरीर के चोर तेरी समस्त पूंजी अर्थात् जन्म की पूंजी को चुरा कर ले जायेंगे। तेरा शरीर मूलाधार आदि छः चक्रों से बनी हुई सोने की कोठरी के समान है जिसमें कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी हुई है किन्तु यदि कुण्डलिनी (योग-समाधि द्वारा) मूलाधार आदि इन छहों चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर सहस्रार चक्र तक पहुंच जायेगी तो यह निश्चित है कि तुझ पर इस शरीर के सारे

रहस्य खुलने में कोई भी देर न लगेगी। इस अवस्था में तेरे शरीर के पाँचों पहरेदार अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी सो गई हैं। कहने का भाव यह है कि इस समय तेरी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भी तुझको अपनी समाधि की ओर विमुख नहीं किया जा रहा है। इसलिये इस समय तेरी कुण्डलिनी (सरलता से) जाग जायेगी (और इस प्रकार वह षट् चक्रों का भेदन करके सरलता से सहस्रार चक्र तक पहुंच जायेगी।) वहां पहुंच जाने पर जीवात्मा का बुढ़ापे और मरण आदि का कोई भय नहीं रहता और उसकी लौ ब्रह्म-रन्ध्र में लग जाती है। यह सारी सिद्धि केवल मन में विचार करने से ही प्राप्त हो जाती है और इसके लिये कहीं आना या जाना नहीं पड़ता। कबीरदास जी का कहना है कि जैसे ही प्राणी को रामचन्द्र जी का नाम रूपी रत्न मिल जाता है वैसे ही उसके इस सृष्टि के विषय में सारे संशय समाप्त हो जाते हैं।

विशेष—१. इस पद में कबीरदास जी ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार मन में थोड़ा सा भी जागरूक रहने पर और माया आदि के चक्कर में न पड़ने से उसे अनायास ही ब्रह्म के साक्षात्कार के रूप में महान् सिद्धि मिल जाती है।

ना कहीं गया न पाया—यहाँ पर कबीरदास जी ने उन तीर्थ-यात्रियों के ऊपर कठोर आक्षेप किया है जो ईश्वर की खोज में निरर्थक ही इस तीर्थ से उस तीर्थ में भ्रमण करते हैं और एक स्थान पर बैठ कर अपने मन की साधना करने का ही प्रयास नहीं करते।

---

(९)

संतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई।
ए संसा मोहि निस दिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ।।टेक।।
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नांहों, पंचतत्त भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं, ए गुण कहाँ समाहीं ।।

नहीं ग्रिह द्वार कछू नहिं तहियां, रचनहार पुनि नांही।
जोवनहार अतीत सदा सगि ये गुण तहां समाहीं ॥
तूटैं बंधै बंधै पुनि तूटे, जब तब होइ विनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै विसवासा।
कहै कबीर यह गगन न बिनसै, जौ धागा उनमांनां।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहिं समांनां ॥

शब्दार्थ—धागा = जीवन का सूत्र। सबद = गुरु का सदुपदेश। प्यंड = पिंड, शरीर। पंच तत्त = पृथ्वी, जल, पावक, गगन और वायु = ये पाँच भौतिक तत्व। उनमांनां = उन्मनी समाधि का आश्रय ले लेने पर। पदहिं = मुक्ति-पद।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे सन्तो, मुझे तो यही चिंता रात-दिन सताती रहती है कि इस जीवन का सूत्र टूट जाने पर फिर गुरु का उपदेश कहाँ समायेगा। मेरी इस शंका का समाधान कोई भी सन्तोषजनक रूप से नहीं कर पाता। कबीरदास जी के कहने का भाव यह है कि इस समय तो शरीर रहते हुये जीवात्मा गुरु के उपदेश पर ध्यान देकर उसके अनुसार चलने का प्रयास कर नहीं रहा है यदि कहीं शरीर का सूत्र ही टूट गया तो फिर जीव को किस प्रकार से गुरु का उपदेश मिल सकेगा।

जिस समय इस जीवन-सूत्र रूपी शरीर का नाश हो जायेगा उस समय न तो इस संसार का ही कोई अस्तित्व रह जायेगा और न ही इस शरीर का। उस समय धरती, जल, पावक, गगन और वायु ये पाँचों तत्व जिनसे इस शरीर का निर्माण हुआ है, भी (इस जीवात्मा के लिये) कहीं नहीं रह जायेंगे और (शरीर में न रहने पर) इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना आदि नाड़ियों का ही कोई महत्व रह जायेगा। फिर उस स्थिति में जीवित होने के ये गुण कहाँ समायेंगे। (शरीर के विनष्ट हो जाने पर) उस समय न तो घर-द्वार का ही कोई महत्व रहता है और न ही उस (जीवात्मा) के लिये अपनी सृष्टि करने वाले का ही कोई

महत्त्व रह जाता है। ये गुण सदैव से ही उसी के साथ रहे हैं जो जीवनयुक्त होता है जीवन विहीन होने पर सारे गुण अपने-अपने मूल अर्थात्-परमात्मा में समा जाते हैं । इस सृष्टि में यह जीवन सूत्र कभी बंधता है (अर्थात् मनुष्य कभी जन्म लेता है) और कभी यह सूत्र टूट जाता है (अर्थात् मनुष्य मर जाता है।) और इस प्रकार सृष्टि एवं विनाश का यह क्रम चलता ही रहता है । कोई जो पिछले जन्म में किसी का स्वामी होता है वही अगले जन्म में उसका ही सेवक बनता है। इस रूप में भला इस विश्व में कौन किसका विश्वास कर सकता है। कबीरदास जी कहते हैं कि यदि जीवन रहते इस जीवन-सूत्र से उनमनी समाधि द्वारा वास्तविक तत्त्व को प्राप्त कर लिया जाय तो यह गगनमण्डल विनष्ट नहीं होता। कहने का भाव यह है कि यदि उन्मनी समाधि द्वारा एक बार ब्रह्म से एकरूपता प्राप्त कर ली जाय तो फिर यह आत्मा परमात्मा से विलग नहीं होती । इसीलिए, यदि आत्मा इस रूप में अपने परम पद अर्थात् परमात्मा में लीन नहीं हो पाती तो केवल सीखने, सुनने अथवा पढ़ने से ही क्या होता है। कहने का भाव यह है कि केवल सीखने, पढ़ने, सुनने आदि की ही आवश्यकता नहीं है वरन् उनके अनुसार आचरण करके परमपद पाना अत्यधिक आवश्यक है।

विशेष—जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक वह किसी विशेष नाम से पुकारा जाता है। उसका कुछ स्वभाव होता है, कोई रंग होता है और कुछ और भी विशेषतायें होती हैं। ये सब ही वस्तुतः मनुष्य के वे गुण होते हैं जिनका जीवन-सूत्र के विनष्ट हो जाने पर कोई भी महत्व नहीं रहता।

———

(१०)

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई ।। टेक ।।
सनक सनंदन जै देवनांमां, भगति करी मन उनहुं न जाना ।
सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानी, मन की गति उनहू नहीं जानी ।।
ध्रू प्रह्लाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहू न देषा ।
ता मन का कोई जानैं भेव, रंचक लीन भया सुषदेव ।
गोरष भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करैं अनन्दा ।
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ।।

शब्दार्थ—भेव=भेद ।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी ने मन की अगम्य गति का वर्णन किया है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे भाइयो, आप लोग उस मन की गति का पता लगाइये जो शरीर के छूट जाने पर भी पता नहीं कहाँ-कहाँ विचरण करता रहता है। सनक, सनंदन आदि, जो ब्रह्मा के मानसपुत्र थे, ऋषि लोग भी अपार भक्ति करके भी मन की गति को जानने में सफल न हो सके। (सनक, सनंदन आदि ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे। मानस के पुत्र होने के कारण उनके मन की गति को जानना सुगम था किन्तु उनको भी इसमें सफलता न मिली।) शिवजी, ब्रह्मा जी एवं नारद मुनि जैसे ज्ञानी लोग भी मन की गति को नहीं जान सके। ध्रुव, प्रहलाद, विभीक्षण और शेषनाग आदि भी शरीर के भीतर स्थित मन की गति को देखने में सफल न हो सके। ऐसे रहस्यपूर्ण मन का भेद भला कोई किस प्रकार पा सकेगा। हाँ, श्रीमद्‌भागवत के श्रोता शुकदेव जी अवश्य इस मन की गति का थोड़ा सा रहस्य पा सके थे अथवा फिर गोरखनाथ, भर्तृहरि एवं गोपीचन्द नाम के योगियों को मन का रहस्य पाने में सफलता प्राप्त हुई थी जिससे इन लोगों ने परमानन्द का लाभ किया था। जो मन इस सारे शरीर में न दिखाई देने वाले एवं

निर्गुण ब्रह्म के समान समाया हुआ है कबीरदास जी ने उसी मन का पूर्ण रूप से परिचय प्राप्त कर लिया है।

---

(११)

पंडित वाद वदन्ते झूठा।
राम कह्यां दुनियाँ गति पावै, षाड कह्याँ मुख मीठा ॥टेक॥
पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा वुझाई।
भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।
नर कै साथ सुव हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूं उड़ जाई जंगल मैं, बहुरि न सुरतै आनै।
साची प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतन सूं हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बाध्यौ, जमपुरि जासी ॥

शब्दार्थ—वाद = प्रतिस्थापना, तर्क। बदन्ते = कहते हैं। षाड = खांड, मिठाई। पावक = आग। दाझै = जल जाय। त्रिषा = तृष्णा, प्यास। सूव = तोता। सुरतै = स्मरण, याद।

भावार्थ—इस पद में कबीरदास जी पण्डितों की रचनाओं को सर्वथा निस्सार बतलाते हुये कहते हैं कि (वेद, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों में) पण्डितों ने अपने जिन मतों को प्रतिस्थापित किया है वे सब झूठ हैं। यदि कहीं रामचन्द्र जी का सच्चा परिचय प्राप्त किये बिना केवल मुंह से राम का नाम कह-कर ही सद्गति अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो जाय, यदि बिना वास्तव में खाँड खाये हुये केवल खाँड का नाम लेने से ही मुख मीठा हो जाय, वास्तविक अग्नि के न होने पर भी यदि कहीं केवल आग-आग कहने से ही पैर जलने लगें, मुंह से केवल पानी-पानी कहने से ही और वास्तव में जल न पीने से ही अगर प्यास बुझ जाये और यदि कहीं भोजन वास्तव में बिना खाये केवल उसका नाम लेने मात्र से भूख भाग जाये अर्थात् भोजन के प्रति तृप्ति

का अनुभव होने लगे तो इस संसार में सारे लोग ही साँसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मुक्ति-पद का लाभ कर लें। कबीरदास जी के कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार केवल खाँड का नाम लेने से ही मुंह मीठा नहीं होता, केवल आग का नाम लेने से पैर नहीं जलने लगते, पानी का नाम लेने मात्र से ही प्यास नहीं बुझती और केवल भोजन का नाम लेने से ही भूख नहीं बुझ जाती है वरन् मुंह मीठा होने के लिए खाँड खाने की, पैर जलने के लिये वास्तविक अग्नि की, प्यास बुझाने के लिये पानी की और भूख बुझाने के लिये वास्तविक भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार केवल राम का नाम लेने से ही किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती वरन् मोक्ष-प्राप्ति तो राम अर्थात् भगवान् के सच्चे स्वरूप का परिचय प्राप्त करने से ही होती है।

लोग घरों में तोता पाल लेते हैं और उसको राम का नाम कहना सिखाते हैं। वह तोता भी उनके साथ राम-नाम बोलने लगता है किन्तु यदि सच पूछा जाय तो वह भगवान् (जिनका वह नाम लेता है) के माहात्म्य के बारे में कुछ भी नहीं जानता है। यदि कभी अवसर मिलने पर वह तोता जंगल में उड़ जाता है तो उसको कभी भी राम का नाम लेने का स्मरण नहीं आता है। कहने का भाव यह है कि वह तोता केवल मनुष्य के सिखाने से हरिनाम ले लेता है किन्तु वास्तव में वह उसके माहात्म्य से पूर्णतया अनभिज्ञ ही रहता है और इसीलिये वह जंगल में उड़कर जाते ही राम-नाम से कोई प्रेम न होने के कारण उसको सर्वतः भूल जाता है।

इसलिये कबीरदास जी का कहना है कि इस संसार के लोगों को इस संसार के विषय-भोगों और माया से ही सच्चा प्रेम होता है और वह भगवान् के सच्चे भक्तों के साथ तो केवल हंसी-मजाक ही करते हैं। यही कारण है कि इन लोगों में जीवन भर राम के प्रति ज़रा भी प्रेम उत्पन्न नहीं होता और मरणोपरान्त ऐसे लोग आवागमन के बन्धनों

में बंध कर यमराज की नगरी को जाते हैं।

विशेष—सच्चे प्रेमी के लिये प्रिय पात्र का नाम लेने की कोई आवश्यकता नहीं होती इसी को स्पष्ट करते हुये कबीरदास जी ने अन्यत्र कहा है :

"नाम न लिया तो का हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिवरता पति को भजै कबहुं नाम नहि लेत।"

---

(१२)

कथा वकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यांनी होई ॥टेक॥
जैसें अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यान विचार॥
देही माटी बोलै पवनाँ, बूझि रे ग्यांनी मूवा स कौनाँ।
मुई सुरति वाद अहंकार, वह न मूवा जो बोलणहार॥
जिस कारनि तटि तीरथि जाँहीं, तरन पदारथ घटहीं माहीं।
पढ़ि-पढ़ि पण्डित वेद बषाणैं, भीतरि हूती बसत न जांणें॥
हूं न मूवा मेरी मुई बुलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जीता नजरि न आया॥

शब्दार्थ—सुरता प्रेमानुरक्त। नव दरवाजे शरीर के नौ द्वार = दो आँखें, दो कान, दो नथने, मुंह, मल एवं मूत्र निकालने के द्वार। दसूं दुवार = दसवां द्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र। हूं = जीव। बलाइ = अहं।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में आत्मचिंतन करते हुए जो अपने आप को जान लेता है वही सबसे बड़ा ज्ञानी है और यही वास्तविक उपदेशक एवं प्रभु-भक्ति में प्रेमानुरक्त है। जिस प्रकार

वायु द्वारा उद्वेलित किये जाने पर अग्नि प्रदीप्त हो उठती है उसी प्रकार सब ओर गमन करने वाली एवं तीव्र वुद्धि द्वारा इस शरीर एवं संसार का सारा खेल सरलता से ही समझ में आ जाता है। इस शरीर में आँखें, कान, नथुने, मुह एवं मल-मूत्र विसर्जक स्थानों के रूप में नौ द्वार हैं और दसवें द्वार के रूप में ब्रह्मरन्ध्र है। हे ज्ञानी! ज्ञान के द्वारा तू इन सबकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर। वास्तव में तेरा यह शरीर तो मिट्टी है और इसमें जो वोलता है वह तो प्राण वायु है। इसलिये हे ज्ञानी! तुझे यह विचार करना चाहिये कि जिस समय हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य मर गया, उस समय क्या वस्तु मरण को प्राप्त होती है। इसके उपरान्त कबीरदास जी स्वयं ही इस शंका का निवारण करते हुये कहते हैं कि जो बोलने वाला है अर्थात् प्राणवायु है वह मनुष्य के मरने पर नहीं मरता वरन् उस समय तो मनुष्य का अहं भाव और मिथ्या दम्भ आदि ही मरते हैं। जिस (परमात्मा को खोजने को) लिये यह सारे सांसारिक विविध तीर्थों में जाते हैं वह परम-तत्व परमेश्वर रूपी महान् रत्न तो सबके शरीर के भीतर ही होता है। विविध ग्रन्थों को पढ़-पढ़ कर पण्डित लोग वेद आदि के उपदेशों का बखान करते हैं किन्तु स्वयं नहीं जान पाते कि उनके द्वारा उपदिष्ट ब्रह्म हृदय के भीतर ही निवास करता है।

वास्तव में मनुष्य की मृत्यु होने पर मनुष्य का अस्तित्व अर्थात् जीव नष्ट नहीं होता वरन् उसका अहं भाव ही नष्ट होता है। जो इस सारे संसार में रम रहा है वह परमात्मा तो वास्तव में कभी भी विनष्ट ही नहीं होता है। कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु जी के द्वारा अपने सदुपदेश से ब्रह्म दिखा दिये जाने पर उनको इस संसार में न कोई मरता दिखाई दिया और न कोई यहां से जाता। कहने का भाव यह है कि सद्गुरु के सदुपदेश की कृपा से कबीरदास जी सहज में ही इस संसार के आवागमन के चक्कर से मुक्त हो गये।

विशेष—इस पद में भी कबीरदास जी ने तीर्थों में भगवान् को ढूंढने वालों पर कठोर प्रहार किया है और उन्हें सचेत किया है कि वह अपने हृदय में ही स्थित परब्रह्म को ही देखें।

पण्डितों और उनके थोथे ज्ञान पर भी कबीरदास जी ने कैसा तीखा व्यंग्य किया है, यह इस पद में देखने ही योग्य है।

———

(१३)

कौन मरै कौन जनमै आई, सरग नरक कौने गति पाई ॥टेक॥
पंचतत अबिगत थैं उतपनां, एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा॥
जल मैं कुम्भ कुम्भ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समांना, यहु तत कथौ गियानी।
आदैं गगनां अंतै गगनां, मधे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किसी लागै, झूठी संक उपाई॥

शब्दार्थ—अबिगत = परम तत्व, परब्रह्म। उतपनां = उत्पन्न होते हैं। तत = तत्त्व तत = सारवचन। गगनां = परमात्मा।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी ने बड़ी ही सरल भाषा में यह समझाने का प्रयास किया है कि वस्तुतः इस संसार में मनुष्य की मृत्यु कुछ भी नहीं केवल पांचों तत्त्वों का उन-उन में मिल जाना है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में कौन मरण को प्राप्त होता है, कौन जन्म ग्रहण करता है और कौन स्वर्ग-नरक आदि गतियों को प्राप्त होता है। कहने का भाव यह है कि संसार में जो यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति मर गया अथवा अमुक का जन्म हुआ, अथवा अमुक को स्वर्ग प्राप्त हुआ अथवा अमुक को नरक मिला, सब झूठ है और ये सब केवल मनुष्य के विश्वास-मात्र हैं। इस संसार में पृथ्वी, जल, पावक, आकाश और वायु इन पांचों भौतिक तत्वों की

चिरन्तन ब्रह्म से उत्पत्ति होती है और ये पांचों ही एक स्थान पर एकत्र होकर पिंड का रूप धारण कर लेते हैं । मनुष्य का शरीर नष्ट होने पर ये सारे तत्त्व फिर से सहज रूपी परम तत्त्व में समा जाते हैं और तब इन की किसी प्रकार की कोई रेखा अथवा निशानी नहीं रह जाती।

अपनी इसी विचारधारा को एक रूपक द्वारा स्पष्ट करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार जल में कोई घड़ा रखा हो तो उस समय उसके बाहर भी जल होता है और भीतर भी। उस समय यदि वह घड़ा टूट जाए तो उसके भीतर का जल बाहर के जल में मिल जाता है और इसमें किसी भी प्रकार की कोई हानि आदि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार इस सारे ब्रह्मांड मे एक परम तत्त्व के रूप में परमात्मा समाया हुआ है और प्रत्येक शरीर के अन्दर भी वही समाया हुआ है ! जब किसी की मृत्यु होती है तो उस शरीर के अन्दर का वह परम-तत्त्व बाहर के परम-तत्त्व में मिल जाता है और इसमें किसी प्रकार का मरण आदि नहीं होता। इस संसार का यह सार कथन ज्ञानियों द्वारा कहा गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस सारे संसार के आदि, मध्य और अन्त सब में परमात्मा का ही निवास है। इसीलिए कबीरदास जी का कहना है कि जीवन-मरण आदि की ये सारी शंकाए व्यर्थ में ही उत्पन्न की गई हैं अर्थात् यह सब मिथ्या ही है। वास्तव में तो इस संसार में कर्म को सर्व प्रधान है।

---

(१४)

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूं सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कोई कहो रांम रांई हो ।।टेक।।
नां हम बार बूढ़ नाहीं हम, नां हमरे चिकलाई हो।
पठए न जांऊ अरवा नहीं आऊं, सहजि रहूं हरिआई हो ।।
वोढन हमरे एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो।

जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो ।।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारी नांऊं रांमराई हो ।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि इहि कबीर कछु पाई हो ।।

शब्दार्थ—बिलग-बिलग अलग-अलग । बिलगाई = अलगाव । बार = बालक । चिलकाई = कसक होना, पीड़ा होना ।

भावार्थ— कबीरदास जी अपने ब्रह्म के शब्दों में कहते हैं कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं और सृष्टि के सभी पदार्थों में मैं ही अलग-अलग रूप धारण करके रम रहा हूं । सृष्टि के नाना पदार्थ मेरे ही अलग-अलग प्रतिरूप हैं । कबीरदास जी का कहना है कि उस ब्रह्म रूपी मुझ को कोई तो कबीरदास जी के नाम से पुकारता है और कोई राम आदि का नाम लेकर पुकारता है । मैं न तो बालक हूं और न ही मैं बूढ़ा होता हूं । इसके अतिरिक्त मुझ को किसी प्रकार की पीड़ा भी नहीं होती है । कहने का आशय यह है कि परमात्मा पर न तो बाल्यावस्था अथवा वृद्धावस्था का ही कोई प्रभाव होता है और न ही उस को किसी प्रकार की पीड़ा आदि ही सताती हैं । मैं न तो कहीं भेजें जाने पर जाता हूं और न ही कहीं बुलाये जाने पर आता हूं वरन् मैं तो सदैव प्रसन्न ही रहता हूं । (विद्वान् लोग तो) संसार के लोग मुझ को प्रयत्न न करते हुए भी एक परम-तत्त्व के रूप में जानते हैं और इस प्रकार मैं एक रूप में ही इस सारे संसार में रम रहा हूं । जिस प्रकार कोई जुलाहा ताने-बानों के द्वारा बुन कर एक थान तैयार करता है और फिर उसके दस टुकड़े कर देता है किन्तु फिर भी उन दसों टुकड़ों में कपड़े का एक ही गुण विद्यमान रहता है ठीक उसी प्रकार मैं भी इस संसार के सारे पदार्थों में व्याप्त हूं । सत्-रज-तम आदि तीनों गुणों की प्रकृति मुझ को नहीं व्याप्ती है और इसी रूप से मैं इस सारे संसार में रमता हूं । मेरी इसी प्रवृत्ति के कारण तो मेरा नाम राम पड़ा है । कबीरदास जी का कहना है कि इस प्रकार ब्रह्म तो इस सारे जगत् को देखता है किन्तु जगत्

उस को नहीं देख पाता है। कबीरदास जी ने स्वय अवश्य उसके स्वरूप को कुछ-कुछ ग्रहण किया है।

---

(१५)

हम तौ एक एक करि जांनां।
दोइ कहैं तिनही कौं दोजग, जिन नाहिन पहिचांनां ॥टेक॥
एकै पवन एक ही पांनी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब मांडे, एक ही सिरजन हारा ॥
जैसै बाढ़ी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अन्तरि तू ही व्यापक, धरै सरूपै सोई ॥
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहे कू गरबांनां।
निरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दीवांनां ॥

शब्दार्थ—एक = परमात्मा। एक = एक। दोई = द्वैत, दो। दोजग = दोज़ख, नरक। घड़े—बनाए गए। बाढ़ी = बढ़ई। गरबांनां = गर्वित हो गया है।

भावार्थ—अद्वैतवाद का प्रबल समर्थन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि हमने तो परमात्मा को केवल एक ही रूप में जाना है (अर्थात् हमारा तो विचार है कि परमात्मा केवल एक ही है भले ही कोई उसे अल्लाह तो कोई उसे राम के नाम से पुकारा करे।) जो उसे परमात्मा का अनेकत्व बतलाते हैं (अथवा इस संसार को पृथक् और परमात्मा को पृथक् बतलाते हैं) उन सब ने निश्चित रूप से ही परमात्मा को उसके सच्चे अर्थों में नहीं जाना है और ऐसे लोग ही नरक में पड़ते हैं। हमारे विचार में तो इस संसार में एक ही पवन परिव्याप्त है और चारों ओर दृश्यमान सारा जल भी एक ही है। एक ही परम प्रकाश इस सारे ससार में दिखाई देता है। एक ही मिट्टी से सारे बर्तनों

की रचना हुई है अर्थात् एक ही प्रकार के तत्त्वों से इस संसार के समस्त पदार्थों की रचना हुई है और एक ही सृष्टिकर्ता ने इन सारे पदार्थों का सृजन किया है।

जिस प्रकार बढ़ई लकड़ी को ही काटता है और अग्नि को कोई नहीं काट पाता उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के अन्दर तू परम ब्रह्म उस स्वरूप को धारण करके व्याप्त है। कहने का भाव यह है कि अग्नि तो सभी लकड़ियों में व्याप्त होती है। जब बढ़ई लकड़ी काटता है तो भी यह अग्नि नहीं कट पाती वरन् लकड़ी के ही टुकड़े होते हैं। ठीक इसी प्रकार परमब्रह्म भी इस संसार के सारे पदार्थों में व्याप्त है और जब किसी भी पदार्थ का विनष्ट होना कहा जाता है तो वह वस्तुतः उसके वाह्य स्वरूप का ही विनाश होता है न कि उसमें व्याप्त परम तत्व का।)

इनके उपरान्त कबीरदास जी मानव-मात्र को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे मानव! तुम माया के भ्रम-जाल एवं धन आदि को देखकर क्यों मिथ्या मोह में पड़ते हो। कबीरदास जी, जो कि प्रभु के प्रेम में पूरी तरह दीवाने हैं, कहते हैं कि यदि इस संसार के सारे भय छोड़ कर सब प्रकार से निर्भय हो जायें तो उसको ये सारे माया-मोह किसी भी प्रकार से व्यथित नहीं कर पाते हैं।

विशेष—इस पद में एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थन देखने को मिलता है।

(१६)

पढ़ि ले काजी बंग निबाजां,
एक मसीति दसौं दरवाजा ॥टेक॥
मन करि मका कबिला करि देही,
बोलनहार जगत गुर ये ही।

उहाँ दो जग भिस्त मुकामां,

इहाँ हीं राम इहां रहिमानां ।।

बिसमल तांमस भरम कै दूरी,

पचूं भखि ज्यूं होइ सबूरी ।

कहै कबीर मैं भया दिवांनां,

मनवाँ मुसि मुसि सहजि समाँनाँ ।।

शब्दार्थ—निवाजा = नमाज । मसीति = मस्जिद । दसौं दरवाजा = दस द्वार, शरीर रूपी मस्जिद के दस द्वार यथा आँखें, कान नथुने, मुँह, उपस्थ, गुदा एवं ब्रह्मरन्ध्र । मका = मक्का नाम का मुसलमानों का पवित्र स्थान । कबिला = कर्बला नाम का मुसलमानों का पवित्र स्थान । बोलनहार = बोलने वाला, ब्रह्म । भिस्त = बहिश्त, स्वर्ग । बिसमल = विस्मरण कर दे । पचूं = पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ । सबूरी = सबर, सन्तोष, शान्ति ।

भावार्थ—बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुये कबीरदास जी काजी को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे काजी ! अब तक जो नमाज तू मस्जिद में पढ़ता है वह ठीक नहीं है और अब तू सच्ची नमाज पढ़ ।

तेरा यह शरीर ही एक मस्जिद है । जिस प्रकार किसी मस्जिद में अनेक द्वार होते हैं उसी प्रकार तेरी इस शरीर रूपी मस्जिद में भी दस द्वार हैं । तू अपने मन को मक्का नाम का पवित्र स्थान और अपने शरीर को कर्बला नाम का पवित्र नाम मान ले । तेरे शरीर के अन्दर जो बोलने वाला अर्थात् ब्रह्म है वही तेरा पूज्य गुरु है । इसलिये तू अपना ध्यान अपने अन्तर में स्थित ब्रह्म पर ही केन्द्रित कर । तेरे अन्तर में न तो कोई नरक है और न कोई स्वर्ग । तेरे अन्तर में जो ब्रह्म विद्यमान है उसे ही कुछ लोग राम के नाम से पुकारते हैं और कुछ रहीम के नाम से । इसलिये तू तमोगुण से उत्पन्न होने वाले अपने सारे भ्रमों को दूर

करके पूर्ण रूप से विस्मृत कर दे और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को पूर्ण रूप से अपने वश में कर ले जिससे तुझे सच्ची शान्ति प्राप्त हो। कबीरदास जी कहते हैं कि मैं तो पूरी तरह से परब्रह्म के प्रेम में अनुरक्त हो गया हूं और मेरा मन (संसार से) सिमट-सिमट कर अर्थात् संसार की ओर से अलग हो-हो कर पूरी तरह से सहज रूपी ब्रह्म में ही समा गया है।

विशेष—मनवां मुसि मुसि सहज समांनां—योगदर्शन के अन्तर्गत समाधि लगाने के लिये चित्तवृत्तियों का विरोध करना अपरिहार्य माना गया है। चित्तवृत्तियों के विरोध का अर्थ है मन का पूर्णरूपेण वश में हो जाना। मन बड़ा चंचल है। इसको धीरे-धीरे ही संसार से हटाना होता है। इसे संसार से एकदम हटा लेना सम्भव नहीं। इसीलिये कबीरदास जी ने यहाँ पर 'मुसि मुसि' का प्रयोग किया है जिसका भाव है कि मन संसार की ओर से धीरे-धीरे सिमट-सिमट कर ही भगवान् की ओर प्रवृत्त हुआ है।

(१७)

काहे री नलनीं तू कुम्हिलांनीं,
तेरे ही नालि सरोवर पांनी ॥ टेक ॥
जल मैं उतपति जल मैं बास,
जल मैं नलनीं तोर निवास ॥
ना तलि पति न ऊपरि आगि,
तोर हेतु कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदिक समांन,
ते नहीं मूए हमारे जान ॥

प्रसंग—यह कबीरदास जी का अत्यन्त प्रसिद्ध पद है। इसमें उन्होंने अन्योक्ति के द्वारा जीव की स्थिति को स्पष्ट किया है।

भावार्थ—कमलिनी के रूप में जीवात्मा को सम्बोधित करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि हे कमलिनी, तू क्यों कुम्हला रही है। तेरी

नाल तो सदैव ही जल के सम्पर्क में ही रहती है, फिर भी तू क्यों कुम्हला जाती है। हे कमलिनी, जल में ही तेरा जन्म होता है और जल में ही तू प्रारम्भ से अन्त तक बनी रहती है। पानी में रहने के कारण तुझे न तो पृथ्वी की अग्नि की ही दाहकता पहुंच पाती है और रात्रि में खिलने के कारण सूर्य की तपन का भी तुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इतना होते हुये भी पता नहीं किस कारण से हे कमलिनी, तू सूखती ही जाती है। कबीरदास जी का कहना है कि जो जल के समान ही हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने जल से एकरूपता की स्थिति प्राप्त कर ली है, वे जहाँ तक कबीर दास जी का विचार है, कभी भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं।

अन्योक्ति के द्वारा इस पद का भाव इस प्रकार होगा :—

कबीरदास जी जीवात्मा को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे जीवात्मा, जब तू नित्यप्रति सनातन परब्रह्म परमात्मा के सम्पर्क में रहती है तो फिर क्यों संसार के इन नाना मायाजालों में फंस कर दुखित होती रहती है। तू वास्तव में इसी परमात्मा का एक अंश है और सदैव इससे ही असम्पृक्त रहता है क्योंकि तेरे चारों ओर यही परमात्मा व्याप्त रहता है। एक ऐसे वातावरण में रहने से, जहाँ का कण-कण परमात्म तत्त्व से अनुप्राणित है तुझे इस मिथ्या संसार की कोई भी दुःख व्याप्त नहीं होना चाहिये किन्तु फिर भी पता नहीं तू क्यों इतनी अधिक व्यथित रहती है और व्यर्थ ही संसार के विभिन्न मोहजालों में भ्रमित होती रहती है। इसके उपरान्त अपने मत की प्रतिस्थापना करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि जो जन साधना द्वारा जल अर्थात् परब्रह्म की सी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं वे लोग उनके विचार से कभी भी मरते नहीं हैं अर्थात् विनष्ट नहीं होते हैं।

विशेष—कबीरदास जी ने इस पद के समान ही विचार निम्नलिखित पंक्तियों में भी व्यक्त किये हैं :—

"जल मैं कुंभ, कुंभ मैं जल है, बहुरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समांना, वहु तत कथौ गियानीं ॥
आदैं गगनां अंतैं गगनां, मधे गगनां भाई।
कहे कबीर करम किसि लागै, झूठो संक उपाई।"

---

(१८)

बागड देस लूवन का घर है,
तहाँ जिनि जाई दाझन का डर है ॥टेक॥
सब जग देखौं कोई न धीरा,
परत धूरि सिरि कहत अबीरा ॥
न तहाँ सरवर न तहाँ पाँणीं,
न तहाँ सतगुर साधू बाँणीं ॥
न तहां कोकिल न तहाँ सूवा,
ऊंचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ॥
देस मालवा गहर गंभीर,
डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर घर हीं मन मांनां,
गूंगे का गुड़ गूंगै जांनां ॥

शब्दार्थ—बागड=बांगड़ प्रदेश, हरयाणा प्रदेश। सम्भवत अपने काल में इस प्रदेश के जीवन की कठिनाईयों को लक्ष्य करके ही कबीरदास ने यहां पर इसका प्रयोग किया है। रेगिस्तान के निकट होने के कारण इस प्रदेश से कोई अभिप्राय नहीं है वरन् उनका तो भाव है कि कठिनाइयों से भरा देश। लूवन - प्रियतम ? दाझन=जलने का परत धूरि सिर=सिर पर धूल पड़ती है अर्थात् असफलता हाथ लगती है। सूवा=तोता। मूवा=मर गया, ऊपर चढ़ गया। मालवा=

उज्जैन का समीपवर्ती प्रदेश, कबीरदास जी के समय में सम्भवतः इस प्रदेश को जाने का मार्ग काफी कण्टकाकीर्ण रहा होगा । इसी कारण कबीर ने इस शब्द का प्रयोग यहाँ किसी अत्यधिक कठिन मार्ग वाले परन्तु अत्यन्त हरे-भरे स्थान के लिये किया है। गूंगे का गुड़ गूंगे जाना = एक कहावत । गूंगा गुड़ खाता है तो वह उसे मीठा तो लगता है किन्तु वह उसके गुण का वर्णन करने में असमर्थ ही होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी प्रियतम के घर की अवस्थिति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि प्रियतम का घर वांगड़ प्रदेश जैसे कठिनाइयों से भरे हुये देश में है और वहां जो कोई जाता है उसे जलने का डर लगता है। कहने का भाव यह है कि प्रियतम के घर जाने पर अपनेपन की भावना के पूर्णरूपेण समाप्त होने की पूरी-पूरी सम्भावना है। कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने सारा संसार छान मारा किन्तु मुझे कोई भी ऐसा न मिला जो प्रियतम के उस प्रदेश तक पहुंचने में सफल हो सका। वहां अब तक सब को पहुंचने में असफलता ही मिली किन्तु फिर भी उस पथ के पथिक उस असफलता को भी सफलता सी ही मान कर आगे बढ़ते ही जाते हैं। उस देश में न तो थकावट दूर करने के लिये कोई तालाब ही है और न कहीं पानी ही मिलता है। उस देश के मार्ग का उचित निर्देश करने के लिये किसी प्रकार से श्रेष्ठ गुरु अथवा साधु के उपदेश भी सूक्ष्म नहीं हो पाते हैं। वहां न तो कोयल का सा मधुर स्वर ही सुनाई पड़ता है और न ही तोते के समान मन मोहक पक्षी ही वहां हैं। कहने का भाव यह है कि प्रियतम के उस प्रदेश के मार्ग में कहीं भी आकृष्ट करने वाली कोई भी वस्तु नहीं है और साधक केवल प्रियतम को पाने का अनन्य लक्ष्य लेकर ही वहां पहुंचने में सफल हो पाता है वहां तो ऊंचे-ऊंचे चढ़ कर वस्तुतः हंस रूपी जीवात्मा उच्च से उच्चतम सोपान को प्राप्त करता है।

मालव देश के समान प्रियतम का देश भी अत्यधिक गहरा एवं गम्भीर है। वहां पहुंच कर तो पग-पग पर तृप्ति का ही अनुभव होता

है। कबीरदास जी का कहना है कि अब तो मेरा मन केवल उसी स्थ
पर रम रहा है और मैं उस स्थान पर अनुभूत होने वाले आनन्द
अभिव्यक्त करने में उसी प्रकार असमर्थ हूं जिस प्रकार कोई गू
व्यक्ति गुड़ खाकर भी उसके गुण अर्थात् मिठास का वर्णन करन
असमर्थ ही रहता है। कहने का भाव यह है कि उस स्थान पर पहु
का आनन्द सर्वथा वर्णनातीत ही है।

विशेष—इस पद में वह देखने ही योग्य है कि कबीरदास
जहां एक ओर परम तत्व के निवास स्थान के मार्ग की गहनता ए
कष्टकमयता का उल्लेख करते हैं वहां उस स्थान को परमानन्दमय ब
कर साधक को उसके प्रति आकृष्ट भी करते हैं।

ऊंचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा—नाथ सम्प्रदाय की साधना-पद्ध
के अनुसार सूर्याङ्ग रूपी इड़ा एवं चन्द्रांग रूपी पिंगला नाड़ियों
बीच मे स्थित सुषुम्ना नाड़ी में बढ़ने वाली वायुशक्ति जब संयमि
होकर, इड़ा और पिंगला के बन्द हो जाने पर, योनिकन्द के मूल
स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्म नाड़ी के मुख को खुला पाकर उ
मार्ग से ऊपर को उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुख होती है
कुण्डलिनी के इस प्रकार ऊर्ध्वमुख होने पर योगी का लक्ष्य हो जाता
कि वह कुण्डलिनी के द्वारा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत
विशुद्धाख्य एवं आज्ञा इन छहों चक्रों का भेदन करके उसे सहस्रार च
में पहुंचा दे। यही सहस्रार चक्र इस पिण्ड का कैलास कहलाता है औ
यहां पर शिवजी का निवास कहा जाता है।

इस वाक्यांश मे हंस रूपी जीवात्मा के ऊंचे-ऊंचे चढ़कर परमप
प्राप्त करने से कबीरदास का अभिप्राय कुण्डलिनी के इस प्रकार षट्चक्र
का भेदन करके सहस्रार का अमृत पान करने का ही कथन किया गय
है। षट्चक्रों का भेदन अत्यधिक कठिन होता है इसीलिये कबीरदास जी
ने मार्ग का इतना अधिक कष्टकर होना कहा है।

———

(१९)

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।

मुद्रा निरति सुरति कर सींगी, नाद न षंडै धारा ।।टेक।।

बसै गगन में दुनों न देखै, चेतन चौकी बैठा ।

चढ़ि अकास आसण नहीं छांड़ै, पीवै महा रस मींठा ।।

परगट कंथा मांहैं, जोगी, दिल में दरपन जोवै ।

सहस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै ।

ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै ।

कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ।।

शब्दार्थ—मुद्रा=अंग विन्यास, नाथ सम्प्रदाय के अनुसार ये चार हैं :—खेचरी, चाचरी, गोचरी और उन्मनी । निरति=निरालम्ब स्थिति । सुरति=शब्दोन्मुख चित्त । ('निरति' और 'सुरति' शब्दों के विशेष स्पष्टीकरण के लिये परिशिष्ट देखिये ।) नाद=शब्द, परमतत्त्व, अनहद नाद । (दे० परिशिष्ट ।) न षंडै=अखण्ड । धारा=सम्बन्ध । धागा=नाड़ी । शरीर-विज्ञान के अनुसार मानव शरीर में इक्कीस हजार छः सौ नाड़ियां होती हैं । ब्रह्म अगनि=निरंजन ज्योति । त्रिकुटी=दोनों भौंहों के बीच का स्थान । सहज=सहजावस्था । सुंनि=शून्य, परम तत्व । (दे० परिशिष्ट ।)

भावार्थ——इस पद में कबीरदास जी हठयोगी साधक का वर्णन करते हुये कहते हैं कि हे अवधूत ! योग की साधना करने वाला इस सारे संसार से निराला ही होता है । उसका तो केवल मुद्रा, निरति, सुरति, हाथ की शृंगी और अनहद नाद से ही अखण्ड सम्बन्ध होता है । वह आकाश में निवास किया करता है अर्थात् मूलाधार आदि षट चक्रों को भेद कर सहस्रार में ही कुण्डलिनी को अवस्थित कर लेता है और इस संसार को बिल्कुल नहीं देखता है । कहने का भाव यह है कि

साधना की पूर्णता पर पहुंच कर योगी का इस संसार से सम्बन्ध पूर्ण रूपेण विच्छिन्न हो जाता है। वह योगी उस समय चेतनामय आकाश पर अवस्थित होता है अर्थात् कुण्डलिनी को सहस्रार कमल में पूर्णतया अवस्थित कर लेता है। इस प्रकार आकाश में चढ़ कर वह आसन को नहीं छोड़ता है अर्थात् इस प्रकार कुण्डलिनी को ब्रह्म-रन्ध्र तक पहुंचा कर वह उसे वहां से वापिस नहीं लाता और वहीं पर स्रवित होने वाले अत्यधिक मीठे रस अर्थात् अमृत का पान किया करता है। इस प्रकार वह प्रकटत: कथा को धारण करके योगी के स्वरूप में रहते हुये हृदय में उस परम तत्व के दर्शन किया करता है। इस प्रकार वह इक्कीस सहस्र छः सौ नाड़ियों में अर्थात् शरीर की प्रत्येक नाड़ी में उस परम तत्व को निश्चल होकर रमा लिया करता है। इस प्रकार से ही जब वह योगी ब्रह्म तत्व की अलख एवं निरंजनी ज्योति से अपनी काया के समस्त दोषों को जला कर उसे पूर्ण रूप से निर्मल बना लेता है तभी उसकी त्रिकुटी में उसका ब्रह्म से सगम होता है। कहने का भाव यह है सब प्रकार से अपने शरीर को निर्मल बना लेने के उपरान्त ही योगी का परम तत्त्व का साक्षात्कार हो पाता है। कबीरदास जी का कहना है कि ऐसा साधक वास्तव में योगेश्वर है। ऐसा साधक सहजावस्था को प्राप्त करके अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को परम तत्व में केन्द्रित कर लेता है।

विशेष—इस पद में कबीरदास जी ने हठयोग की जटिल पद्धति का आश्रय लेकर साधना करने वाले योगी का वर्णन किया है।

ब्रह्म अगनि में काया जोरे—नाथ सम्प्रदाय में योगी के लिये शरीर का सब प्रकार से साधित करना अत्यन्त आवश्यक है। काया की साधना के लिये योगी को शरीर के तीन अत्यन्त शक्तिशाली स्रोतों, बिंदु अर्थात् शुक्र, प्राण एवं मन को अपने अधिकार में करना पड़ता है। इन तीनों में से किसी एक को भी स्थिर कर लिया जाय तो शेष

दो स्वतः ही अधीन हो जाते हैं। इन्द्रिय-निग्रह के बिना साधना सम्भव ही नहीं। इसी कारण कबीरदास जी ने यहां पर शरीर-साधना पर इतना बल दिया है।

सहज सुंनि ल्यौ लागै—शून्य शब्द आकाश का भी वाचक होता है और आकाश का गुण है शब्द। कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर मस्तक भी अनहद नाद सुनने लगता है। इसलिये इस वाक्यांश का भाव यह भी हो सकता है कि साधक सहजावस्था को प्राप्त करके अपनी उद्बुद्ध कुण्डलिनी द्वारा अनहदनाद का श्रवण करने लगता है।

'परगट कथा.......................जोंहैं'

में दीपक अलंकार है।

———

(२०)

अवधू गगन मंडल घर कीजै।

अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नाल रस पीवैं ॥टेक॥

मूल बांधि सर गगन समांनां, सुषमन यों तन लागी।

काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहाँ जोगणीं जागी।

मनवां जाइ दरीबै बैठा गगन भया रसि लागा।

कहै कबीर जिय संसा नांही, सबद अनाहद बागा ॥

शब्दार्थ—गगन = मण्डल = शून्य शिखर। बंक नाल = सुषुम्ना नाड़ी। जोगणीं = कुण्डलिनी। दरीबै = सहस्रार चक्र, सहजावस्था। बागा = बाँगता है, सुनाई देता है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे अवधूत, तुमको तो अपना घर शून्य-शिखर पर ही बना लेना चाहिये। कहने का आशय यह है कि तुम समाधिस्थ होकर, कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करके उसमें षट्चक्रों का भेदन करा कर उसे सहस्रार चक्र में पहुंचा दो। उस सहस्रार चक्र

में, (जिसे कैलास भी कहा जाता है) सदैव अमृत की झड़ी लगी रहती है और इस कारण वहाँ पर सदैव ही सुख की सृष्टि होती रहती है। इसलिये हे अवधूत ! तुम्हें अपनी सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से कुण्डलिनी के द्वारा हमेशा ही उस अमृत का पान करना चाहिये।

मूलाधार चक्र से जागृत होकर सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामिनी हो गई अर्थात् सहस्रदल कमल में पहुंच गई। उस समय उस साधक के सारे काम-क्रोध आदि विकारों ने जल कर पलीते का काम किया और उसकी कुण्डलिनी जागृत हो गई। इसके अनन्तर मन तो सहजावस्था को प्राप्त करके शून्य मण्डल में जा पहुंचा और वहां पर ब्रह्मरन्ध्र से प्रस्रवित होने वाले अमृत का पान करके मग्न हो गया। कबीरदास जी कहते हैं कि इस स्थिति में पहुंच कर साधक के मन में किसी प्रकार का कोई संशय नहीं रह जाता है और वह अनहद नाद का निरन्तर श्रवण करने लगता है।

(२१)

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा ॥टेक॥
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन करि महुवा भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी॥
सुंनि मंडल मैं मंदला बाजै तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै॥
पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भव बन्धन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥

शब्दार्थ—उन्मनि = उन्मनी नाम का कोष, तुरीयावस्था (देखिये परिशिष्ट)। भव = संसार। दोइ पुड जोड़ि = इड़ा एवं पिंगला इन दोनों नाड़ियों का समन्वय करके। चिगाई = तैयार की। मंदला बाजे = अनहद नाद होता है।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी ने शराब खींचने की प्रक्रिया के द्वारा योगी द्वारा अपना चरम प्राप्तव्य पाने का वर्णन किया है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे अवधूत! मेरा तो मन अब (ब्रह्म का सान्निध्य पाकर) सब प्रकार से मतवाला हो गया है। इस समय यह उन्मनी कोश में (अथवा तुरीयावस्था में) पहुंच कर अमृत का पान कर रहा है और इस महारस का पान करने से मेरे लिये जैसे तीनों लोकों में प्रकाश भर गया है अर्थात् इस रस का पान करने से मुझको तीनों लोकों का ज्ञान सहज में ही प्राप्त हो गया है।

अपने इस अवस्था में पहुंचने का वर्णन शराब खींचने के रूपक द्वारा करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार शराब खींचने के लिये महुये के रस में गुड़ डाल कर उसे भट्टी पर पकाया जाता है उसी प्रकार मैंने अपने ज्ञान को गुड़ किया है, अपने ध्यान का महुआ बनाया है और इस संसार को एक बड़ी भट्टी बनाया है। अपनी इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों का समन्वय करके मैंने इस प्रक्रिया के लिये भट्टी तैयार की है और उसमें अग्नि प्रज्वलित करने के लिये काम और क्रोध का पलीता लगाया है। इस प्रकार इस प्रक्रिया से महान् रस रूपी अमृत स्रवित हुआ है जिसको पीकर मेरी सारी सांसारिक बाधाएं दूर हो गई हैं और मेरा पीने का इच्छुक मन अब इसका छक कर पान कर रहा है। (यहां पर ध्यान देने योग्य है कि शराब के नशे में भी शराबी अपने इधर-उधर के सारे वातावरण को भूल जाता है और जहां तक इसका वश चलता है वह शराब छक कर ही पीता है। यहां राम-नाम का रस तो

शराब की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि इसका एक बार स्वाद पा लेने पर फिर मनुष्य किसी भी दशा में इसका पान करना छोड़ना नहीं चाहता। इसके अलावा शराब के नशे में मनुष्य जहाँ थोड़ी देर के लिये ही आत्मविस्मृत होता है वहाँ राम-नाम के नशे में तो वह सदा-सदा के लिये ही अपनी सारी साँसारिक बाधाएं भूल जाता है।) शून्य शिखर पर अनहद नाद उत्पन्न होता है जिस नाद को श्रवण करता हुआ मेरा मन वहाँ स्थित हुआ सदैव नाचता रहता है। गुरु की कृपा के प्रसाद से ही मुझको इस अनुपम अमृत के फल की प्राप्ति हुई है और मेरी सुषुम्ना सहजावस्था में ही लीन रहने लगी है।

कबीरदास जी कहते हैं कि जब ज्ञान के क्षेत्र में पूर्ण अधिकार रखने वाला गुरु मिलता है तभी मनुष्य को अनुपम सुख की उपलब्धि होती है और तभी शरीर के सारे ताप (त्रिविध ताप आदि) दूर होते हैं। इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होने पर ही मनुष्य के समस्त सांसारिक बन्धन समाप्त हो जाते हैं और उसकी आत्मा रूपी ज्योति का परम ज्योति रूपी परमात्मा में विलय हो जाता है।

विशेष—दोई पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी—नाथपंथी साधना की प्रारम्भिक स्थिति में साधक को अभ्यास द्वारा इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों के मार्ग को बन्द करना पड़ता है। यहाँ पर इन दोनों नाड़ियों का समन्वय करके भट्टी तैयार करने का आशय इन दोनों नाड़ियों का मार्ग बन्द करना ही है।

---

(२२)

नाच रे मेरे मन मत्त होइ।
प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ॥
राहु-केतु नवग्रह नाचै, जम जन्म आनन्द होइ।

गिरी समुन्दर धरती नाचै लोक नाचै हंस-रोइ ॥
छापा-तिलक लगाइ बाँस चढ़ हो रहा जग से न्यारा।
सहस कला कर मन मेरो नाचै, रीझै सिरजनहारा ॥
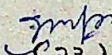
प्रसंग—प्रेम के राग से सृष्टि के सारे पदार्थ कबीरदास जी को नाचते दिखाई देते हैं इसीलिये वह अपने सर्जक को प्रसन्न करने के लिये अपने मन से भी नाचने को ही कहते हैं।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे मेरे मन तू भी अब पूरी तरह से भगवान् के प्रेम के रस में मग्न होकर नाच। अब तो (अपने वाद्यों पर) केवल प्रेम का राग ही बजा जिससे उसका ही शब्द सब कोई रात दिन सुने। इस प्रेम राग के स्वर को सुनकर राहु केतु और नवग्रह सभी नाचने लगते हैं और मृत्यु के देवता अर्थात् यमराज तक को इससे आनन्द हो रहा है। (राहु, केतु और नवग्रह आदि मनुष्य के भाग्य विधाता एवं एतदर्थेव उसके भाग्य-सूचक कहे जाते हैं। यहां पर उनके नाचने का कथन करके कबीरदास जी ने भगवत प्रेम से भाग्य तक के अनुकूल हो जाने का कथन किया है। यमराज मृत्यु के देवता कहे जाते हैं। इस प्रेम-रस से उनको भी आनन्द हो रहा है। इसका आशय यही है कि इस प्रेम-रस से मनुष्य का मृत्यु-भय दूर हो जाता है। इस प्रेम-राग का श्रवण करके पहाड़, समुद्र और धरती तक नाचने लगते हैं और सारा संसार ही इस प्रेम-राग में हंस-रोकर नाचने लगता है। इस राग के प्रभाव का गगन एवं यमलोक तक में पड़ने वाला प्रभाव कबीरदास जी पहले ही अंकित कर चुके हैं फिर उसके लोकव्यापी प्रभाव का तो कहना ही क्या।)

कबीरदास जी भी छापा-तिलक आदि लगा कर अर्थात् योगी का वेश बना कर इस संसार से विराग धारण करके इससे पूरी तरह अलग हो गये हैं। इसीलिये इस समय उनका मन हजारों कलाएं करता हुआ अर्थात् भांति-भांति की मुद्राएं धारण करता हुआ नाच रहा है। इस विविध मुद्राओं में नृत्य करने का कबीरदास जी का लक्ष्य यही है कि

किसी प्रकार उनकी रचना करने वाला विधाता प्रसन्न हो जाए।

---

(२३)

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।

हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले॥
सुरत-कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले॥
तेरा साहब है घरमांहो, बाहर नैना क्यों खोले।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले॥

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जब मेरा मन प्रभु के प्रेम में पूर्ण रूप से निमग्न हो गया है तब वह भला क्या बोले। (जब कोई मनुष्य अधिक हर्षित अथवा शोकग्रस्त होता है तब वह प्रायः अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में असमर्थ ही रहता है। भगवत्साक्षात्कार का आनन्द तो सभी भक्तों के द्वारा गूंगे द्वारा खाये जाने वाले गुड़ के स्वाद की भांति बताया गया है।) अब तो कबीरदास जी ने ब्रह्म-ज्ञान रूपी हीरा पा लिया है और अब उसको खूब अच्छी तरह अपनी गाँठ में बाँध लिया है। अब भला उस गाँठ को बार-बार खोलने की क्या आवश्यकता है। कबीरदास जी कहते हैं कि जब उनको गुरु-कृपा से प्राप्त होने वाला गौरवशाली ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तब तक तो वह गौरव प्राप्त न होने से हल्के थे अर्थात् संसार की दृष्टि में ओछे थे किन्तु अब ब्रह्म-ज्ञान रूपी गौरव प्राप्त हो जाने पर कबीरदास जी यथेष्ट भारी हो गये हैं और तब उनको संसार के सामने अपना यह गौरव दिखलाने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है।

सुन्दर प्रेम को ढालने वाली कलारिन स्वयं ही इतनी मदमस्त हो गई कि वह (राम-नाम की) शराब विना कोई नाप जोख किये हुये ही पी गई। कबीरदास जी के कहने का भाव यह है कि राम नाम में ऐसा मद है कि इसको ढालने वाला स्वयं भी इसका पान करते समय, एक बार पान करना प्रारम्भ करके फिर रुकना नहीं जानता और इस कारण उसे उस समय यह भी ध्यान नहीं रहता है कि वह इस राम-नाम की कितनी मदिरा पी गया है। जब हंस को मानसरोवर की प्राप्ति हो जाए तो वह (उसे छोड़कर भला) ताल-तलैयों की खोज में क्यों मारा-मारा फिरे। (कहने का भाव यह है कि कबीरदास जी रूपी हंस को तो परब्रह्मानन्द से आपूरित मानसरोवर की उपलब्धि हो गई अब वह भला अन्य आनन्दों की खोज में अन्य देवताओं आदि की आराधना आदि का अथवा अन्य किसी साधना के आश्रय का अवलम्बन क्यों लें।)

कबीरदास जी मन को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि तेरा स्वामी तो तेरे अन्दर ही वास करता है फिर उनकी खोज के लिये तुझे कहीं बाहर किसी प्रकार की चर्चा करना कहाँ तक उचित है। साधुजन को सम्बोधित करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि उनको तो अपने स्वामी अर्थात् भगवान् की प्राप्ति उसी प्रकार हो गई है जिस प्रकार तिलों को पेरने से उसके अन्दर न दिखाई देने वाला तेल प्राप्त हो जाता है।

(२४)

मोंहि तोंहि लागी, कैसे छूटे।
जैसे कमलपत्र जल बासा चन्दा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा॥
जैसे चकोर तकत निसि चन्दा,
ऐसे तुम साहिब हम बन्दा॥

मोहि-तोहि आदि-अन्त बन आई,

अब कैसे लगन दुराई ॥

कहैं कबीर हमारा मन लागा,

जैसे सरिता सिंध समाई ॥

शब्दार्थ—दुराई = छिप सकती है।

भावार्थ—कबीरदास जी अपने अराध्यदेव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मेरे और तेरे बीच का जो सम्बन्ध है वह किस प्रकार से टूट सकता है अथवा मेरी तुझ से जो प्रेम की लगन लग गई है वह किस प्रकार टूट सकती है। जिस प्रकार कमल का पत्ता-पुरइन-जल के मध्य में ही रहता है उसी प्रकार हे स्वामी! आप इस संसार में व्याप्त हैं और मैं इस संसार में ही रहता हूं। दूसरा रूपक प्रस्तुत करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार रात्रि के समय चकोर केवल चन्दा की ही ओर तकती रहती है उसी प्रकार आप हमारे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक। मैं भी चकोर की भांति सदैव आप की ही ओर आप का कृपाभिलाषी हुआ देखता रहता हूं।

इसके उपरान्त कबीरदास जी परमात्मा से अपने अनादि एवं अनन्त सम्बन्ध को निरूपित करते हुए कहते हैं कि मेरा और तुम्हारा तो आदि में भी सम्बन्ध था और अन्त में भी रहेगा फिर मेरा-तुम्हारा प्रेम किसी भी प्रकार कैसे छिप सकता है। कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार नदी समुद्र में पूर्ण रूप से समाहित हो जाती है उसी प्रकार मेरा मन भी पूर्ण रूप से परमात्मा-तत्त्व में समा गया है।

---

(२५)

जाग पियारी अब का सोवे।

रैन गई दिन काहेको खोवे ॥

जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरी सब सोय गवाया॥

पिय तेरे चतूर तू मूरख नारी।
कबहुं न पियकी सेज सँवारी॥

तैं बौरी बौरापन कीन्हीं।
भर-जोवन पिय अपन न चीन्हीं॥

जाग देख पिय सेज न तेरे।
तोहि छांड़ि उठि गए सबेरे॥

कहैं कबीर सोई धुन जागै।
शब्द-बान उर-अन्तर लागै॥

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी अपनी आत्मा को एक ऐसी विवाहिता नारी के रूप में चित्रित करते हुए जो अपने पति को अपने पागलपन के कारण जीवन भर न जान सकी, आत्मा एवं परमात्मा के अविच्छिन्न सम्बन्ध का निदर्शन करा रहे हैं।

भावार्थ—अपनी आत्मा को उद्बोधन देते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि हे आत्मा रूपी प्यारी नारी, अब तेरे सोने का समय अर्थात् सांसारिक माया-चक्र में फंसे रहने का समय नहीं है। अब तो तू जाग जा अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर ले। अब तो (अज्ञानान्धकार से भरी हुई) रात्रि व्यतीत हो चुकी है और (ज्ञान के प्रकाश से युक्त) दिन का समय आ गया है तू इस को व्यर्थ में ही न गंवा दे। कहने का भाव यह है कि बुद्धि के अज्ञानावृत होने पर यदि आत्मा रूपी नारी अपने पति रूपी परमेश्वर को नहीं पहचान सकी तब तो कोई बात नहीं किन्तु अब ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तो नारी-रूपी आत्मा को परमात्मा की अच्छी प्रकार से सेवा करनी चाहिए।

जो लोग जागते रहते हैं अर्थात् इस संसार के माया जाल में नहीं पड़ते हैं वही परम तत्त्व रूपी माणिक्य को पाते हैं किन्तु हे पगली

नारी रूपी मोहाक्रान्त आत्मा ! तूने तो सो कर अर्थात् संसार के बन्धनों में फंस कर अपना सब कुछ ही गंवा दिया है। तेरे स्वामी अर्थात् परमेश्वर बड़े ही चतुर पुरुष हैं किन्तु तू निश्चित रूप से बड़ी ही निपट मूर्ख है जो तूने इतने दिनों में कभी भी प्रियतम की शय्या तक ठीक से नहीं बिछाई। कहने का भाव यह है कि सांसारिक बन्धनों में फंसे हुए जीव को कभी परमेश्वर की सेवा करने का ध्यान तक न आया। हे पगली नारी, तू केवल पागलपन का ही आचरण करती रही जो अपने सारे यौवन काल में अपने पति को भी नहीं पहचान सकी। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने सारे जीवन भर परमेश्वर को नहीं पहचान पाता है और केवल मृत्यु के निकट आने पर ही भगवान् का स्मरण-ध्यान आदि करने की चेष्टा करता है।

आत्मा रूपी नारी को पुनः सम्बोधित करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि अब तू जाग कर देख कि तेरे पति शय्या पर तेरे पास नहीं हैं और वह बड़े सवेरे ही तुझ को छोड़ कर चले गए हैं आशय यह है कि आत्मा का परमात्मा से काफी समय पूर्व ही बिछोह हो चुका है और इस विषय में आत्मा को अब तक कुछ भी ज्ञान नही हो सका है।

इसलिए कबीरदास जी का कहना है कि अपने प्रियतम से मिलन की धुन केवल उसकी ही लग सकती है जिस के हृदय में अन्तरतम तक गुरुपदेश के वचन धंस गए हैं। कहने का भाव यह है कि गुरु की कृपा से उन का उपदेश भली प्रकार से हृदयंगम करने पर ही प्रभु से मिलन की बलवती इच्छा उत्पन्न होती है।

---

(२६)

बोलो भाई रांम की दुहाई।

इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूं न अघाई ।।टेक।।

इला व्यंगुला भाठो कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससि हर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी॥
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजां कछु न सुहाई।
उलटी गंग नीर वहि आया, अंमृत धार चुवाई।
पंच जने संग करि लीन्हैं, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागै, सोवन नागिन जागी॥
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूं उछकि न जाई॥

शब्दार्थ--व्यंगुला = पिंगला। ससि और सूर = हठयोगी की एक व्याख्या के अनुसार 'ह' का अर्थ सूर्य और 'ठ' का अर्थ चन्द्र बताया जाता है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार सूर्य इड़ा नाड़ी को और चन्द्रमा पिंगला नाड़ी को कहते हैं। यहां पर भी 'ससि' एवं 'सूर' से इन्हीं दोनों नाड़ियों का भाव ग्रहणीय है। द्वार दस कान, आंख, नथूने, मुंह, मल-मूत्र विसर्जन --मार्ग एवं ब्रह्म-रन्ध्र। उलटी गंग जब योनिकंद के मूल में स्थित कुण्डलिनी सुषुम्ना के मूल को खुला पाती है तो ऊर्ध्वमुख होकर उपर्युपेरिस्थित षटचक्रों का भेदन करती है।। ऊर्ध्वमुखी होने के कारण यही सुषुम्ना मार्ग यहां उल्टी गंगा के नाम से अभिहित किया गया है। पंच जने पांच ज्ञानेन्द्रियां। नागिनी = कुण्डलिनी। वायु और उपस्थ के मध्य में जहां मेरुदण्ड आकर लगता है वहां पर एक स्वयंभूलिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्नि चक्र भी कहते हैं। इसी स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट पर सर्पणी की भांति कुण्डलिनी अवस्थित रहती है। इस प्रकार की अवस्थिति के कारण ही कुण्डलिनी को नागिन आदि के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

भावार्थ--कबीरदास जी कहते हैं कि हे भाइयो! आप लोग केवल रामचन्द्र जी (अर्थात् ईश्वरमात्र) का नाम ही बार-बार जपते रहो। इस राम-नाम के रस का ऐसा अनोखा आस्वाद है कि इस को

पीकर शिव सनकादिक पूर्ण रूप से मस्त हो गये हैं और वे लोग आज तक इस रस का पान करके तृप्त नहीं होते हैं।

अब ब्रह्म-साधना के मार्ग का विश्लेषण करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियों को भट्टी बनाकर (हृदय से ब्रह्म-प्रेम की लौ लगा ली। इसके उपरान्त इड़ा एवं पिंगला तथा शरीर के दशों द्वारों को बन्द करके योग-साधना से (सुषुम्ना मार्ग के द्वारा) दोनों भौंहों के मध्य अवस्थित त्राटक में मन पहुंच गया। तदनन्तर इस ऊर्ध्वमुखी कुण्डलिनी द्वारा सुषुम्ना मार्ग में, सहस्रार चक्र वाले ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होने वाला अमृत आने लगा और इस अमृत के प्राप्त होने पर मन मतवाला होकर राम-नाम के ही रस का पान करने लगा और उसको और किसी भी वस्तु को कोई भी सुध न रही। मन ने इस आनन्द का पान करने में पांचों ज्ञानेन्द्रियों को भी साथ ले लिया और इस प्रकार वह भी राम-नाम के इस रस का आस्वाद पाकर आनन्द से बेसुध हो गई। यह सब तो इधर इस रूप में भगवत्प्रेम के प्याले पीने लगे और उधर (अग्निचक्र में अवस्थित) कुण्डलिनी भी उद्बुद्ध हो गई। (साधक के लिये कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करना परमावश्यक कहा गया है।) शून्य-शिखर पर स्थित इस अमृत-रस का आस्वाद उन्हीं लोगों को मिल सकता है जिनको इसके विषय में सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त हो जाय। कबीरदास जी ने इस रस को प्राप्त किया है और वे सदैव ही इसके आनन्द में मस्त रहते हैं। उनकी इच्छा है कि उनका कभी भी इस रस से विच्छेद न हो।

---

(२७)

भाई रे चूंन बिलूंटा खाई।
बाघनि संग भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ॥टेक॥
सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जांन भेव।

खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड न देई लेव ।।
पाड़ोसनि पनि भई बिरानीं, मांहि हुई घर घालै ।
पंच सखी मिलि मंगल गावैं, यह दुख याकौं सालैं ।।
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मंदिर सदा अंधारा ।
घर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि किया पसारा ।।
होत उजाड़ सबै कोई जांनैं सब काहू मनि भावै ।
कहै कबीर मिलै जे सतगुरु, तौ यहु चून छुड़ावै ।।

शब्दार्थ—चूंन=पुण्य, सत्कर्म । दिलूंटा=बिल्ली, माया । बाघनि=बिल्ली और बाघ एक ही जाति के होते हैं । इसलिये यहां पर माया को बाघनी कहा गया है । खसम=प्रभु । भेव=भेद । पंच सखी =पाँच ज्ञानेन्द्रियां । याकौं=भक्त को । जोया=ढूंढा ।

प्रसंग—इस छन्द में कबीरदास जी ने यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार माया रूपी बिल्ली मनुष्य के सत्कर्म नष्ट कर डालती है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे भाइयो, माया रूपी बिल्ली सभी मनुष्यों के सत्कर्मों को नष्ट किये डाल रही है । यह माया रूपी बाघनी सभी के साथ सब समय लगी रहती है और मनुष्य को प्रभु का भेद नहीं जानने देती । कहने का भाव यह है कि मनुष्य माया के जाल में फंस कर अपने समस्त सत्कर्मों से हाथ धो बैठता है और धीरे-धीरे वह माया में ऐसा लिप्त हो जाता है कि उसे अपने प्रभु के विषय में भी कोई ज्ञान नहीं रहता है ।

इस माया रूपी बिल्ली के आकर्षण मनुष्य के शरीर को पूरी तरह से खाये जा रहे हैं और आश्चर्य की बात तो यह है कि इस भेद को कोई भी नहीं जानता है । इस माया का पति अर्थात् प्रभु तो पुत्रहीन है और इसी कारण उसका आँगन सूना है । कहने का भाव यह है कि

प्रभु तो सब प्रकार के ममत्व से परे है और इसीलिये वह किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह दुश्चरित्र माया किसी को प्रभु का पुत्र बनने भी नहीं देती अर्थात् माया के कारण कोई भी प्रभु की सच्ची भक्ति नहीं कर पाता है। इसी माया के कारण मनुष्य अपने समीपस्थ प्रभु तक से पराया हो जाता है और इस प्रकार यह माया भी मनुष्य और उसके घट में स्थित परमात्मा के बीच में दीवार खड़ी करने में सफल हो जाती है। यह सब देख कर मनुष्य की पाँचों सखियाँ अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ भी अत्यधिक आनन्दित होकर मंगल-गान गाने लगती हैं अर्थात् मनुष्य के माया लिप्त होने पर उसकी ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने स्वादों में लगकर मोद मनाने लगती हैं किन्तु इन सबके इस प्रकार के आचरण से भक्त को अत्यधिक दुःख होता है। (इस माया से ग्रस्त होने के कारण मनुष्य इतना बौरा सा जाता है कि वह) दो-दो दीपकों से घर-घर में उजाला करके वहां तो प्रभु को ढूंढने का प्रयास करता है किन्तु उसके हृदय रूपी मंदिर में अन्धकार ही रहता है जहाँ यदि प्रकाश हो जाय तो मनुष्य को परम तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य बाह्य संसार का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करके वहां तो प्रभु को ढूंढने का प्रयत्न करता है किन्तु वह अपने हृदय में ईश्वर को नहीं खोजता है। आज मनुष्य अपनी पहुंच के भीतर तो स्वार्थ की पूर्ति में लगा ही रहता है किन्तु इतने से सन्तुष्ट न होकर भी वह अपनी पहुंच के बाहर भी स्वार्थ-साधन का प्रयास करता ही रहता है।

जब मनुष्य का शरीर इस प्रकार माया द्वारा नष्ट किया जाता है तो सब लोग यह जानते हुये भी अत्यन्त प्रसन्न ही होते हैं। कबीरदास जी का कहना है कि यदि मनुष्य को सद्गुरु की प्राप्ति हो जाये तो वही उसके सत्कर्मों की इस माया रूपी बिलाउ से रक्षा कर सकता है।

———

(२८)

मन रे कागद कीर पराया।
कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारैं, कल तर बढ़ै सवाया॥
बड़ैं बौहरे सांटो दीन्हौं, कल तर काढ्यो खोटैं।
चार लाष अरु असी ठीक दे, जनम लिष्यौ सब चोटैं॥
अब की बेर न कागद कीरयौ, तो धर्म राइ सूं तूटै।
पूंजी वितड़ि वंदि लै दैहै, तब कहै कौंन के छूटै॥
गुरदेव ग्यांनीं भयौ लगनियाँ, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसरनी नाव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा॥

शब्दार्थ—कागद = कागज़, रुक्का, उधार आदि लेने पर लिखा जाने वाला कागज़। कीर = तोते की तरह बंदी। कल तर = कल तक। वौहरै = व्यापार। खोट = दोष। कीरयौ = पूरा किया। वितड़ि = बढ़ जाने पर। लगनियाँ = जमानती। निसरनी = सोपान, सीढ़ी।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी मनुष्य के जन्म को दूसरे के द्वारा उधार दिये हुये धन के समान बताकर उसे शीघ्रातिशीघ्र चुकता करने की सलाह दे रहे हैं।

भावार्थ—मन को सम्बोधित करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि हे मन। तू तो उधार के रुक्के के लिये दूसरे के तोते की भांति बंदी है। कहने का भाव यह है कि यह जीव तो तुझे परमात्मा से उधार मिला हुआ है और तूने उधार के लिये जो कागज भर रखा है उसे पूरा करने के लिये तू प्रतिश्रुत है। तेरा इस प्रकार के उधार लेने के व्यापार का क्या लाभ क्योंकि इसमें तो तूने जो कुछ उधार ले रखा है वह कल तक बढ़कर सवाया हो जायेगा। कहने का भाव यह है कि सत्कर्मों के अभाव में मनुष्य को अधिकाधिक समय तक जन्म-मरण के चक्कर में

पड़े रहना पड़ेगा। यह तेज व्यापार पता नहीं कल तक तुझ पर क्या-क्या दोष लगा कर खड़े कर देगा और तुझको उन दोषों को भुगताने के लिये चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर भटकते हुये न जाने कितने-कितने कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि तू अब की बार भी अर्थात् मनुष्य योनि में जन्म लेकर भी इस कागज़ को पूरा न कर सका तो धर्मराज भी तुझ से रूठ जायेंगे। (कहने का भाव यह है कि मनुष्य को अपने पाप-कर्मों के फल भोगने के लिये न जाने कितने जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं और भांति-भांति के कष्ट उठाने पड़ते हैं। मानव-जन्म में यदि वह चाहे तो सत्कर्म करके अपने जन्म-मरण के बन्धन को समाप्त कर सकता है।) तू जो इस समय इस कागज़ की रकम को चुकता नहीं कर रहा है सो इस रकम के बढ़ जाने पर जब (महाजन) तुझको बन्दी बना लेगा तो भला कौन तुझे मुक्त करा सकेगा। उस समय केवल ज्ञानी सद्‌गुरु ही तेरा ज़मानती हो सकता है और वही तुझको उस समय प्रभु-स्मरण का ही प्रदान करेगा। इस सद्‌गुरु के द्वारा तुझको राम-नाम की सीढ़ी प्राप्त होगी। इसी भक्ति के चरम सोपान पर चढ़कर कबीरदास जी इन सारे बन्धनों से मुक्त हो जायेंगे।

———

(२९)

गोब्यन्दे तुम्ह थैं डरपौं भारी।

सरणाई आयौ क्यू गहिये, यहु कौन बात तुम्हारी ॥टेक॥

धूप दाझतें छांह तकाई, मति तरवर सच पाऊं।

तरवर मांहैं ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊं ॥

जे बन जलै न जल कूं धावै, मति जल सीतल होई।

जल ही मांहि अगनि ज निकसै, और न दूजा कोई ॥

तारण तिरण तिरण तू तारण और न दूजा जानौं।

कहै कबीर सरनांई आयौ, आंन देव नहीं मानौं ॥

शब्दार्थ—गहिये = पकड़ते हैं । दाझत = जलते हुये । तकाई = तकी, देखी । सच पाऊं = शान्ति पाऊं । निकसै = निकले । सरनाई— शरण में ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे गोविन्द ! मैं आपसे बहुत अधिक डरता हूं और इसीलिये आपकी शरण में आया हूं किन्तु आपके सामने आकर आपकी यह बात तनिक भी समझ में नहीं आ रही है कि आप शरण में आये हुये को भी कृपा करके अपना नहीं रहे हैं । यदि कोई धूप में झुलसता हुआ व्यक्ति यह सोचकर छाया की ओर देखे कि शायद मैं वहा तरुवर के नीचे छाया में पहुंच कर शान्ति पा जाऊं किन्तु यदि उस पेड़ में से ज्वाला ही निकलने लगे तो किस वस्तु को लेकर उस तपन को शान्त किया जा सकता है । कबीरदास जी के कहने का भाव यह है कि वह संसार के त्रिविध तापों की ज्वाला से बचने के लिये भगवान् की शरण में शान्ति की खोज में आये थे किन्तु यहां पर भी भगवान् द्वारा उनकी शरण में न लिये जाने से उनको शान्ति-लाभ नहीं हुआ है । इस स्थिति में कबीरदास अब भला और कहां जाए ।

इसी बात को कबीरदास अन्य रूपक द्वारा कहते हैं कि यदि संसार रूपी तन जलने लगे तो प्राणिमात्र ईश्वर रूपी जल की ओर भागता है कि सम्भव है कि इस जल से शीतलता प्राप्त हो किन्तु जब उसी जल से शीतलता प्राप्त न हो और उसके स्थान पर इस जल से भी अग्नि निकलने लगे तो भला प्राणि-मात्र की क्या दशा होगी अर्थात् ऐसी स्थिति में फिर प्राणी किसकी शरण में जाएगा अर्थात् अन्य कोई भी ऐसा नहीं है जिसकी शरण में जाने पर प्राणी को शान्ति-लाभ हो सके । कबीरदास जी कहते हैं कि हे प्रभु ! आप ही मेरा उद्धार करने वाले हैं और आप ही मुझको इस संसार रूपी सागर से पार करने वाले हैं और मैं तो आपके सिवा इस संसार में और किसी को भी नहीं जानता हूं । मैं आपकी शरण में इसीलिये आया हूं क्योंकि मैं आपके अलावा किसी भी दूसरे देवता को नहीं मानता हूं ।

———

(३०)

डगमग छाड़ि दें मन बौरा।

अब तौ जरें बरें बनि आवें, लीन्हों हाथ सिधौरा ।।टेक।।

होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छांड़ौ।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै, सती न संचै भाड़ौ ।।
लोक वेद कुल की मरयादा, इहै गले मैं पाती।
आगा चलि करि पीछा फिरिहै, ह्वै है जग मैं हासी ।।
यहु संसार सकल है मैला, राम कहै ते सूचा।
कहे कबीर नाव नहीं छांडौं, गिरत परत चढ़ि ऊंचा ।।

शब्दार्थ—डगमग—चंचलता। बौरा=पागल। सिधौरा=सिंदूर रखने का पात्र। सूरौ=वीर। भांडा=भांड। सूचा=शुचि, शुद्ध।

भावार्थ—अपने मन को सम्बोधित करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि हे पागल मन! अब तू अपनी चंचलता को छोड़ दे अर्थात् कभी संसार की ओर और कभी प्रभु की ओर जाने की प्रवृत्ति को छोड़ दे (और अनन्य होकर प्रभु की ओर लग जा।) जिस प्रकार कोई सती होने की इच्छुक स्त्री जब सिंदूर का पात्र हाथ में ले लेती है तब उसका सती होने का निश्चय दृढ़ हो जाता है और वह चिता में जलने के सिवा उस समय किसी अन्य मार्ग का वरण नहीं करती अर्थात् चिता पर से लौटती नहीं। इस प्रकार हे मन! अब जब कि तूने प्रभु की भक्ति करने का व्रत ग्रहण कर लिया है तो अब तेरे लिये और कोई मार्ग शेष नहीं रह गया है और जिस प्रकार से भी होगा प्रभु की शरण में ही रहना होगा।

अब तो हे मन तू सारे लोभ, मोह और भ्रम को छोड़कर प्रभु की भक्ति में मग्न होकर सर्वथा निःशंक होकर नाचता रह। वीर लोग

मरने से नहीं डरा करते और स्त्री अपने प्रचार के लिये भांडों को एकत्र नहीं करती है। (इसी प्रकार तुझे भी किसी प्रकार का भय अथवा मोह नहीं होना चाहिये। प्रभु-भक्ति के मार्ग पर चलते हुये व्यक्ति संसार, वेद और वंश की जिन मर्यादाओं का ध्यान रखना चाहता है वही उसके गले की फांसियां हैं। (इसलिये मनुष्य को इन सबका कोई विचार न करते हुये सर्वथा निःशंक भाव से प्रभु-भक्ति करना चाहिये।) यदि मनुष्य किसी मार्ग पर आधा चल कर पीछे लौट आये तो उसकी संसार में बहुत हंसी होती है इसीलिये अब जो तूने प्रभु-भक्ति का मार्ग अपनाया है तो इस पर तू नित्य-प्रति आगे ही आगे बढ़ता रह।

यह सारा संसार भांति-भांति की अशुद्धियों से भरा हुआ है और जो लोग यहाँ पर राम का नाम लेते हैं वही इस संसार की अशुद्धियों से बचकर निर्मल हो जाते हैं। इसीलिये कबीरदास जी कहते हैं कि मनुष्य को राम नाम का सम्बल नहीं छोड़ना चाहिये और इस राम-नाम के मार्ग पर गिरते पड़ते हुये भी ऊंचे-ऊंचे ही चढ़ जाना चाहिये अर्थात् जैसे भी हो प्रभु से मिलन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर ही लेना चाहिये।

विशेष—**सिघौरा**—प्राचीनकाल में पति के मर जाने पर जब कोई स्त्री उसके साथ सती होती थी तो उसके साथ उसके सौभाग्य के समस्त चिन्ह—यथा सिन्दूर का डिब्बा, चूड़ियाँ आदि - भी रख दिये जाते थे। सती स्त्री द्वारा अपने सिन्दूर के डब्बे को अपने हाथ में ले लेने से उसका सती होना पूर्णरूपेण निश्चित हो जाता था। यहाँ पर कबीरदास जी ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अन्य कई टीकाकारों ने इस सामान्य अर्थ को छोड़कर 'सिघौरा' का 'खाँडा' अर्थ लेकर समस्त पंक्ति के अर्थ का अनर्थ करने का प्रयास किया है। सो विज्ञ पाठक उनके गलत अर्थ को छोड़ कर सही अर्थ पर ही मनन करें।

सती संचै भांडौ—इस उक्ति का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। १. सती स्त्री अपने सती होने का प्रचार करने के लिये

भांडों को एकत्र नहीं करती। भांड वेश्या के दलाल होते हैं जो उसके लिए ग्राहक लाते हैं। २. सती स्त्री सती होने से पूर्व वर्तन-भांडे एकत्र नहीं करती।

चाहे किसी भी प्रकार से अर्थ करें भाव यही है कि सती नारी किसी प्रकार का मोह नहीं करती है।

---

(३१)

अवधू कांमधेन गहि बांधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे ॥टेक॥
जो ब्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरठौ।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरों त्यूं दरठौं ॥
तिहि धेन थैं इंछया पूगी, पाकड़ि खूंटै बांधी रे।
ग्वाडा मांहै आनन्द उपनौं, खूंटै दोऊ बांधी रे ॥
साई माइ सास पुनि साई, साई याकी नारी।
कहै कबीर परमपद पाया, सन्तौ लेहु बिचारी ॥
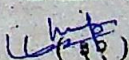
शब्दार्थ कांमधेन - प्रभु भक्ति रूपी कामधेनु। भांडा = वर्तन, संसार के मिथ्याडम्बर। दरठौं = सन्तानवती हो अर्थात् सांसारिक माया की ओर उन्मुख हो जाय। ग्याभण = सन्तान को उदरस्थ किए हुए अर्थात् शान्त एवं गम्भीर बनी हुई। ग्वाडा = ग्वाला। उपनौं = उत्पन्न करती है। साई = परमात्मा।

भावार्थ – कबीरदास जी संन्यासी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे अवधूत, मैंने तो प्रभु की भक्ति रूपी एक कामधेनु को पकड़ कर बांध लिया है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार कामधेनु मनुष्य की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाली होती है उसी प्रकार भगवान् की भक्ति भी भक्तों के सारे मनोरथ पूर्ण करने वाली होती है। प्रभु

की यह भक्ति सब के सांसारिक मिथ्याडम्बरों को फोड़ देती है। यह ऐसी अन्धी है कि इस को कुछ भी नहीं दिखाई देता है। कहने का आशय यह है कि भक्त प्रभु की भक्ति में इतना अधिक मग्न हो जाता है कि फिर उसे इस संसार में कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है। यह गाय यदि सन्तानवती होती है अर्थात् यदि यह सांसारिक माया की ओर उन्मुख हो जाती है तो सर्वथा निष्फल हो जाती है और यदि सन्तान को उदरस्थ किए हुए ही अर्थात् सारे संसार को आत्मसात करके शान्त एव गम्भीर बनी रहे तो अद्भुत अमृत देती है। यह कामधेनु ऐसी है कि इन को मन पर अत्यधिक नियन्त्रण करके ही प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि यदि मनुष्य सांसारिक बन्धनों को नष्ट कर देता है तब तो यह उस को प्राप्त हो जाती है और यदि वह सांसारिक बन्धनों में घिर जाता है तो यह कामधेनु भी उन बन्धनों से डर कर भाग जाती है। इस कामधेनु से मनुष्य की समस्त इच्छाएं पूरी हो जाती हैं। इसीलिए कबीरदास जी ने इस को पकड़ कर खूंटे से बांध लिया है अर्थात् दृढ़ता से इस को ग्रहण किया है। यदि कोई इसको अच्छी तरह से साध ले तो यह गाय ग्वाले रूपी भक्त को अमित आनन्द प्रदान करती है। कबीरदास जी कहते हैं कि इस गाय के समस्त नाते केवल परमात्मा से ही हैं और किसी से नहीं। परमात्मा ही इस की माता है वही इस की सास है और वही इस की स्त्री है। कहने का भाव यह है कि भक्ति ग्रहण करने पर साधक के सारे नाते केवल परमात्मा से ही हो जाते हैं।

कबीरदास जी का कहना है कि उन्होंने इसी प्रकार से परमपद की प्राप्ति की है। कबीरदास जी के इस कथन का सन्त लोग अच्छी प्रकार से विचार कर लें।

———

(२९)

माया महा ठगनि हम जानी।
तिरगुन फांसि लिए कर डोलै बोधै मधुरी बानी ॥टेक॥

केसव कमला होई बैठी, सिव के भवन भवानी ।।
पन्डा के मूरत होई बैठी, तीरथहू में पानी ।।
जोगी के जोगिन होई बैठी, राजा के घर रानी ।।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कोड़ी कानी ।।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी ।।

शब्दार्थ— तिरगुन = सत्व, रजस् एवं तमस्, ये त्रिगुण। केसव = विष्णु। कमला = लक्ष्मी।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हमने तो विचार करके माया को एक महान् ठगने वाली नारी के रूप में ही जाना है। यह मुंह से मधुर वचन बोलते हुये भी हाथ में सत्व, रजस् और तमस् इन त्रिगुणों की फांसी लिये हुये घूमती रहती है। कहने का भाव यह है कि माया का बाह्य रूप तो बड़ा ही आकर्षक होता है किन्तु अपने वास्तविक रूप में तो यह सबको त्रिगुणों के बन्धन में ही बद्ध कराती है। यही भगवान् विष्णु के यहाँ लक्ष्मी जी का रूप धारण करके और शंकर भगवान् के घर में पार्वती जी का रूप धारण करके बैठी हुई है। पंडित जी के यहां मूर्ति का रूप धारण करके और तीर्थों में पानी के रूप में व्याप्त है। योगियों के यहां योगिन और राजा के घर में रानी के रूप में भी यह माया ही बैठी हुई है। किसी के घर में यह हीरा बन कर बैठी हुई है और किसी के अर्थात् गरीबों के कानी कौड़ी के ही रूप में बैठी हुई है। भक्तों के यहां भक्तिन और ब्रह्मा के यहां ब्रह्माणी भी इसी माया के विविध रूप हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि यह सब एक ऐसी कहानी है कि जिसे सुगमता से नहीं समझा जा सकता है।

कबीरदास जी के कहने का भाव यह है कि माया इस सारे संसार में किसी न किसी रूप में व्याप्त है। समस्त संसार में माया के

सिवा और कुछ भी नहीं है। नारी सारे संसार का आकर्षण केन्द्र होती
है। माया भी नारी ही है। इसलिये कबीरदास जी ने अधिकांश स्थलों
पर माया को अर्द्धांगिनी नारी के रूप में ही वर्णन किया है। धन भी
आकर्षण का कम केन्द्र नहीं इसीलिये माया को किसी के घर में हीरे के
रूप में और किसी के घर में कानी कौड़ी के रूप में भी दिखाया गया
है। इतना सब होने पर भी माया का सारा चरित्र और त्रिया-चरित्र की
भांति ही—अबूझ एवं अकथनीय ही है।

———

(३३)

साधो एक रूप सब माँहीं।
अपने मनहिं विचारि कै देखौ और दूसरो नाहीं॥
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के मांहीं।
कहीं नारि कहीं नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाहीं॥
सब्द पुकारि सत्त मैं भाखौं अन्तर राखौं नाहीं।
कहैं कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरले ताहि लखाहीं॥

शब्दार्थ—गैर पुरुष = कोई अन्य अद्‌भुत पुरुष।

प्रसंग—संसार के समस्त प्राणियों में एक ही ब्रह्म की सत्ता
विद्यमान है इसलिये किसी प्रकार का भेद-भाव करना उचित नहीं है यही
कबीरदास जी के इस प्रस्तुत पद का भाव है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे साधुओ! इस संसार
के समस्त प्राणियों में (ब्रह्म का) एक ही रूप विद्यमान है। इस विषय
में तुम लोग अपने मन में विचार करके देख लो तो यही तथ्य तुम्हारे
सामने आयेगा कि कहीं भी कोई भी और दूसरा नहीं है चाहे कोई
ब्राह्मण हो और चाहे कोई शूद्र उन सब में एक ही प्रकार की खाल और
खून आदि होते हैं। जो ब्रह्म कहीं तो नारी होकर और कहीं नर होकर

बोलता है वह कोई उससे भिन्न अद्भुत पुरुष नहीं होता वरन् वहीं ब्रह्म होता है।

कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह पद कह कर (अथवा सौगन्ध खाकर) यह सत्य कह रहा हूं और इसमें किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं रख रहा हूं कि जिन व्यक्तियों को इस प्रकार का निर्मल ज्ञान होता है वे इस संसार में बिरले ही होते हैं किन्तु उन्हें इस प्रकार की अवस्थिति में ब्रह्म अवश्य दिखाई देता है।

विशेष—कबीरदास जी जांति-पांति के प्रबल विरोधी थे। इस पद में उनका वही रूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है। प्रबल तर्कों से जहाँ उन्होंने एक ओर यह सिद्ध कर दिया है कि ऊंच-नीच सभी में एक ही प्रकार का रक्त प्रवाहित हो रहा है और सभी की त्वचा एक सी है वहां उन्होंने सबमें एक ही ब्रह्म का प्रकाश होना दिखाकर भी सबकी समानता ही प्रतिपादित की है।

———

(३४)

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै ।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई विरला पेषै ।।टेक।।
मूसा पैठा बांषि मैं, लारै सापणि धाई ।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई ।
चींटी परवत ऊषण्यां, ले राख्यो चौड़े ।
मुर्गा मिनकी सूं मृड़ै, झल पाँणीं दौड़े ।
सुरहीं चूषै बछतलि, बछा दूध उतारै ।
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहिं मारै ।।
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै ।
कहै कबीर ताहि गुरु करौ, जो या पदहि बिचारै ।।

शब्दार्थ—उभेषै=देखता ही रह गया। मूसा=चूहा। हसती—हाथी। पेषै=देखे। बांषि=बिल। सापणि=(माया रूपी) सर्पणी। गिली=निगल लिया। ऊण्णयां=उखाड़ लिया। झल=अग्नि, दाह।

सुरहीं = सुरभि, गाय। बछतलि = बछड़े के नीचे। सारदूलहि = शेर को। ससा = खरगोश।

प्रसंग—यह कबीरदास जी की एक प्रसिद्ध उलटबासी है जिसमें अद्भुत उक्तियों के माध्यम से उन्होंने साधक द्वारा माया पर विजय पाई जाने का वर्णन किया है।

भावार्थ—मेरे गुरु ने पारब्रह्म परमेश्वर का इतने अद्भुत रूप से मुझे उपदेश दिया कि मैं आश्चर्यचकित होकर गुरु जी की ओर देखता ही रह गया।

अब गुरु जी के उपदेश की अद्भुतता का वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि चूहा हाथी से लड़ता है और इसको कोई बिरला ही देख पाता है। (चूहा मन है और हाथी माया। मन का माया से लड़ना चूहे का हाथी से लड़ना ही है। मन और माया का युद्ध विरले ही देख पाते हैं। चूहा अपने बिल में ही बैठा रहता है और सर्पणी उसकी ओर लपक कर उससे लड़ाई करती है और फिर भी हे भाइयो! अचरज की बात तो यह है कि उल्टा चूहा ही साँपिन को निगल जाता है। कहने का भाव यह है कि जब साधक अपनी साधना में तल्लीन होकर बैठ जाता है तो माया रूपी नागिन उसको पथभ्रष्ट करने के लिये पूरा ज़ोर लगाती है किन्तु फिर भी साधना के मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ा हुआ साधक ही माया को परास्त करता है न कि माया साधक को। यही यहां कबीरदास जी ने चूहे और नागिन की लड़ाई के माध्यम से कहा है। कबीरदास जी आगे कहते हैं कि चूहे का यह कार्य वैसा ही हुआ जैसे कि किसी चींटी ने कोई पहाड़ उखाड़ लिया हो और उसको लम्बे-चौड़े मैदान में ले जाकर स्थापित कर दिया हो।

उपदेश की और अद्भुतता का कथन करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि मुर्गा बिल्ली से लड़ाई करता है अर्थात् साधक और माया का युद्ध होता है और प्रवाहित होते हुये जल के मध्य अग्नि रहती है अर्थात्

ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होते हुये अमृत-बिन्दुओं के मध्य ज्योति स्वरूप अग्नि रहती है।

गाय बछड़े के नीचे (उसके कल्पित थनों को) चूसती है और बछड़ा दूध उतारता है। कहने का भाव यह है कि आत्मा रूपी गाय ब्रह्मरन्ध्र रूपी बछड़े के नीचे चूसती है और ब्रह्मरन्ध्र रूपी बछड़े से भी अमृत रूपी दूध प्रस्रवित होता है।

साधक भी गुरु से उपदेश पाकर इतना अधिक गुणी अर्थात् सबल हो गया है कि वह माया के सिंह को भी बड़ी सरलता से मार गिराता है और भी आश्चर्य की तो बात यह है कि भ्रम रूपी भील यद्यपि संसार रूपी वन के बीच में छिप गया है फिर भी साधक रूपी खरगोश उस पर वाणों का प्रहार कर रहा है। (सामान्यतया भील खरगोशों पर शर-प्रहार करता है।) इसीलिये कबीरदास जी का कहना है कि जो इस पद का अर्थ ठीक प्रकार से समझ ले उसी को अपना गुरु बनाना चाहिये।

विशेष इस पद में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उल्टी-उल्टी बातों का ही कथन किया है यथा :—चूहे का हाथी से लड़ना, चूहे पर साँपिन का लपकना किन्तु फिर भी साँपिन का ही चूहे का ग्रास बनना, चीटी का पर्वत उखाड़ना, मुर्गे का बिल्ली से लड़ना, पानी के बीच आग रहना, गाय का बछड़े के नीचे दूध पीना और बछड़े का दूध उतारना, मनुष्य का शेर को मारना, वन में छिपे हुये भील पर खरगोश का शर-प्रहार करना आदि। देखने में ये सारे कथन बड़े ही अद्भुत लगते हैं इसीलिये तो गुरु के उपदेश से कबीरदास जी भी आश्चर्य चकित होकर देखते ही रह जाते हैं। वास्तव में तो इन कथनों से कबीरदास जी ने सर्वथा निर्बल किन्तु दृढ़निश्चयी साधक और अत्यधिक बलवती माया के बीच होने वाले युद्ध का दिग्दर्शन कराया है जैसा कि भावार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है। माया और साधक के मध्य युद्ध वस्तुत: हाथी और चूहे का ही युद्ध है जिसमें चूहे के जीतने की कोई आशा नहीं होती

किन्तु फिर भी गुरु के उपदेश के बल पर साधक रूपी चूहा जीतता ही है।

---

(३५)

अब मैं जाणिवो रे केवल राइ की कहाँणी।
मंझा जोती राम प्रकासै, गुरु गमि बाँणी ।।टेक।।
तरवर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछाँणी।
साखा पेड फूल फल नाँही, ताकी अमृत बाँणीं ।।
पुहप वास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया ।।
सोलह मझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया।
सहज समाधि विरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या
कहै कबीर दास मैं चेला, जिनि यह तरवर पेष्या ।।

शब्दार्थ—कहाँणी रहस्य, वास्तविकता। मंझा = मध्य, बीच में। सुरता सुरत द्वारा, सहज समाधि द्वारा। पुहप = पुष्प। राता = अनुरक्त। बारा अमृत-जल। पेष्या देख लिया।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी का कहना है कि उन्होंने उस महाप्रभु का रहस्य जान लिया है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि अब मैं उस केवल प्रभु का रहस्य जान गया हूं। (प्रभु के साथ केवल लगाने का भाव है कि प्रभु केवल एक ही है, अन्य कोई नहीं जैसा कि कबीरदास जी अन्य अनेक पदों द्वारा भी प्रतिपादित कर चुके हैं।) ज्योति के मध्य में रामचन्द्र जी प्रकाशित होते हैं यह मुझे गुरु जी के उपदेश से ही ज्ञात हुआ है। कहने का भाव यह है कि रामचन्द्र जी के चारों ओर एक अनन्त ज्योति-प्रकाशित होती रहती है। शून्य रूपी वृक्ष पर ब्रह्म की वह अनन्त आभामयी मूर्ति सुशोभित होती है जिसको केवल सहज समाधि के माध्यम से सुरत द्वारा ही पहचाना जा सकता है। वह एक ऐसा पेड़ है जिसमें शाखा, फल, फूल आदि नहीं हैं वरन् वहाँ पर मात्र अमृतमय

वाणी—अनहद नाद—ही सुनाई देती है । कहने का भाव यह है कि प्रभु का—माया की भाँति—किसी प्रकार का विस्तार आदि नहीं है । उस पेड़ पर उसके मधु में अनुरक्त एक भंवरा अर्थात् जीवात्मा पहुंचती है जो उस अमृत जल को अपने हृदय में संचित करके रख लेता है। इस प्रकार वह वृक्ष सोलह प्रकार के पवनों से झकझोरे खाता हुआ स्थित होता है और उसका फल शून्य-शिखर पर ही फलता है। (सोलह पवनों से सम्भवतः कबीर का भाव सोलह आधारों से है जो तीनों सृष्टियों को स्थिर करने वाले हैं।) यह वृक्ष सहज समाधि के जल द्वारा सींचा जाता है और धरती के जल का वृक्ष यहाँ पर आकर सूख जाता है अर्थात् सांसारिकता का इस वृक्ष को स्पर्श तक नहीं होने पाता है। कबीरदास जी का कहना है कि मैं तो उसी गुरु का चेला हूं जिसने इस प्रकार के अद्भुत वृक्ष को देखा हो।

---

(३६)

अवधू अगनि जरै कै काठ।

पूजौं पंडित जोग सन्यासी सतगुरु चीन्हैं बाट ।।टेक।।
अगनि पवन मैं पवन कवन मैं, सबद गगन के पवनां।
निराकार प्रभु आदि निरंजन, कत रबते भवनां ।।
उतपति जोति कवन अधियारा, घन बादल का बरिखा।
प्रगट्यो बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म नहीं देखा ।।
मरना मरै न मरि सकै, मरनां दूर न नेरा।
द्वादस द्वादस सनमुख देखै, आपै आप अकेला ।।
जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बाँधनहारा बाँध्या।
बाँध्या मुकता मुकता बाँध्या, तिहि पारब्रह्म हरि लाँधा ।।

जे जाता ते कौंण पठाता, रहता ते किन राख्या।
अमृत समाना विष मैं जाना, विष मैं अमृत चाख्या।
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मैं मेर समाँनाँ।
अनेक जंनम का गुर गुर करता, सतगुरु तब भेटाँनाँ।

शब्दार्थ—सबद = अनहद नाद। रवते = रमण करते हैं। द्वादस द्वादस = द्वादश आदित्य। छुछंद = छछूंदर। मेर = मेरा, ममत्व।
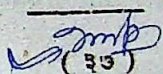
भावार्थ– संसार की गति के विषय में प्रश्न करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में वास्तव में माया में वासना की अग्नि लप रही है अथवा जीव में प्रभु का जो अंश है वही प्रकाशित हो रहा है। इस शंका के समाधान के लिये मैंने पंडित, योगी और संन्यासी सभी को पूजा की किन्तु कहीं से भी मुझको इसका सन्तोषजनक उत्तर न मिला क्योंकि इसका वास्तविक मार्ग तो सद्‌गुरु ने ही पहचाना है अग्नि तो वायु अर्थात् प्राणवायु में समा जाती है परन्तु पवन किस में समाती है ? फिर अपनी शंका का समाधान करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि पवन अर्थात् प्राणवायु शून्य मंडल में व्याप्त अनहद नाद में समाविष्ट हो जाती है। प्रभु तो सब प्रकार से आकार-रहित और सदैव से ही सब प्रकार के विकारों से रहित हैं फिर वह भला किसी मन्दिर आदि में किस प्रकार रमण कर सकते हैं। उस परम प्रभु की ज्योति की उत्पत्ति होते ही सारा अज्ञानांधकार क्षण-भर में तिरोहित हो जाता है और घने बादलों की वर्षा होने लगती है अर्थात् प्रभु से साक्षात्कार होते ही अज्ञान दूर हो जाता है, अनहद नाद सुनाई देने लगता है और अमृत जल प्रस्रवित होने लगता है। इस प्रकार बीज रूप से सृष्टि के सभी पदार्थों में समाहित प्रभु तो प्रकट हो जाते हैं किन्तु धरती के सारे प्राणी फिर भी सांसारिक तापों से अत्यधिक क्लेश पाते रहते हैं

क्योंकि वह सब परब्रह्म परमेश्वर को नहीं देख पाते हैं प्रभु को प्राप्त करने की साधना इतनी कठिन है कि उस में पल-पल में यही भास होता है कि अब मरे अब मरे (कष्टों के कारण ही इस प्रकार की अनुभूति होती है।) फिर भी इस मार्ग पर चलते हुए साधक के लिए मरना भी कठिन होता है (क्योंकि उसके हृदय में प्रभु-दर्शन की साध होती है।) और प्रभु के दर्शन प्राप्त होने पर तो मरण समीप ही नहीं रहता वरन् अत्यधिक दूर हो जाता है। प्रभु का दर्शन प्राप्त होने पर प्राणी की आत्मा को द्वादश आदित्यों के प्रकाश में परब्रह्म दिखाई देते हैं और उस समय वह आत्मा परमात्मा के साथ अकेली ही रह जाती है। जो इस संसार के बन्धन में बन्ध गए हैं उन की गति छछूंदर के समान हो गई अर्थात् उन से न तो संसार में ही रह कर ठीक से आचरण करते बनता है और न ही संसार छोड़े बन पाता है। उन लोगों को वस्तुतः इस संसार के सर्जक विधाता ने ही माया के बन्धन में बांध दिया है। जो इस संसार में माया के बन्धन में पड़े हुए हैं वे मुक्त होने की युक्ति में क्यों नहीं लगते क्योंकि जो इन बन्धनों से मुक्त हो गया है वही परब्रह्म हरि को पाने में सफल हुआ है।

जो ईश्वर की ओर जाना चाहता है उसे भला इस संसार में कौन उस ओर भेजता है और जो उस ओर न जाकर इस संसार में ही रमे रहते हैं उन को कौन उधर न जाने देकर रोके रखता है। कहने का भाव यह है कि जो प्रभु की भक्ति करना चाहता है उसे कोई उधर भेजता नहीं वरन् वह स्वयं ही उस मार्ग पर चल पड़ता है और जो उस ओर न जाकर संसार में ही रम जाता है उस को कोई उस ओर जाने से रोकता नहीं वरन् वह स्वयं ही रुक जाता है। कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु-भक्ति के विष के समान कण्टकाकीर्ण मार्ग को मैंने अमृत के समान समझ कर ग्रहण किया है और उस विष में भी गगन-मण्डल से प्रस्रवित होने वाले अमृत का आस्वाद पाया है।

कबीरदास जी अच्छी तरह से सोच-विचार कर कहते हैं कि इस प्रकार प्रभु-भक्ति करने से तिल में ही मैं और मेरेपन की भावना समा जाती है अर्थात् ये सारी भावनाएं क्षण भर में नष्ट हो जाती हैं और अनेक जन्मों से थोड़े-थोड़े पुण्य कर्म करने का इस जन्म में यह फल निकला कि मेरी सतगुरु से भेंट हो गई जिन्होंने मुझे प्रभु-भक्ति के इस मार्ग पर चला दिया।

विशेष—इस सारे पद में उलटवासी की शैली ही दिखाई देती है।

(३७)

अवधू ऐसा ग्यान बिचार।
भेरै चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पार।टेक॥
ऊघट चले सु नगरि पहूंचते, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटानें, के बांधे के छूटे॥
मन्दिर पैसि चहूं दिसि भीगे, वाहरि रहे ते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा॥
बिन नैनन के सब जग देखैं, लोचन अछते अन्धा।
कहै कबीर कछू समझि परी है, यहु जग देख्या धन्धा॥

शब्दार्थ—भेरै=बेड़ा, नाव। अधधर=ठीक बीच में, मंझधार में। ऊघट=ऊपड़-खावड़ मार्ग, कुन्डलिनी की ऊर्ध्वगति अर्थात् उल्टा मार्ग। जेवडी=रज्जु, माया की रस्सी।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे अवधूत! आप ऐसे अद्भुत ज्ञान का विचार कीजिये। इस ज्ञान के अनुसार जो इस संसार में (संसार के) बेड़े पर चढता है वह तो मंझधार में डूब जाता है परन्तु जो इस का सहारा नहीं लेता वह पार उतर जाता है। कहने का

यह है कि संसार का आश्रय ग्रहण करने से मनुष्य डूब जाता है जबकि संसार को छोड़ने से वह भवसागर से पार हो जाता है। यदि मनुष्य उल्टे मार्ग से जाय तब तो नगरी में पहुंच जाता है और यदि ठीक मार्ग से जाता है तो रास्ते में लूट लिया जाता है। कहने का आशय यह है कि कुण्डलिनी को ऊर्ध्व गति से तो मनुष्य को उस का चरम प्राप्तव्य ब्रह्म मिल जाता है किन्तु सीधे तौर से अन्य सांसारिकों की भान्ति चलने पर वह अपना सर्वस्व ही गंवा बैठता है। भवन के अन्दर बैठने पर तो वह चारों ओर से भीगता है किन्तु बाहर रहने पर सब प्रकार से सूखा ही रहता है। भाव यह है कि शून्य मन्दिर मे जो कोई भी पहुंच जाता है वह तो वहां प्रस्रवित होने वाले अमृत से अच्छी प्रकार से भीगता है किन्त वहां न पहुंचने वाला उस अमृत की वर्षा से वंचित रहने के कारण सूखा ही रहता है। इसी प्रकार जिन लोगों ने अपने मन को मार दिया है वे तो सदैव के लिए सुखी हो गए हैं किन्तु जो इस मन को नहीं मार सके हैं, वे हमेशा दुःखी ही रहते हैं। (मारने से दुःख और न मारने से सुख होना चाहिए किन्तु यहां पर उल्टा ही होता है।) इसी प्रकार पारब्रह्म से साक्षात्कार कर चुकने वाला व्यक्ति तो सारे संसार को बिना नेत्रों के (केवल अन्तः नेत्रों से ही) देख लेता है जब कि सांसारिक जीव नेत्रों के होते हुए भी इस संसार की वास्तविक गति नहीं जान पाते है। इसीलिए कबीरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार कुछ यह समझ में आता है कि यह संसार केवल धोखे ही धोखे से भरा हुआ है।

विशेष—१. संसार तो समस्त दर्शनों एवं सन्तों-विचारकों के एक मत में धोखा ही है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

२. उलटबासियों से भरे इस पद में विरोधाभास, विभावना आदि अलंकारों का सौन्दर्य भी देखते ही बनता है।

---

(३८)

पषा पषी कै पेषणैं, सब जगत भुलांनां ॥
निरपष होइ हरि भजै, सो साध सयांनां ॥टेक॥
ज्यूं षर सूं षर बंधिया, यूं बधे सब लोई ।
जाकै आत्म द्रिष्टि है, साँचा जन सोई ॥
एक एक जिनि जाँणियाँ, तिन ही सच पाया ।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया ॥
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै ।
कहै कबीर कछू समझि न परई, या कछु बात अलेखै ॥

शब्दार्थ—पषा पषी = पक्ष-विपक्ष ; मैं मेरा, तू-तेरा । षर = गधा । ल्यौ लीन = लवलीन ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि यह सारा जगत् तो पक्ष-विपक्ष अर्थात् मैं-मेरा, तू-तेरा के चक्कर में पड़ कर भ्रमित हो गया है। जो मनुष्य निष्पक्ष होकर अर्थात् मैं-मेरा तू-तेरे आदि के चक्करों से ऊपर उठ कर भगवान् का भजन करता है वही इस संसार में सज्जन और साधु पुरुष है। इस संसार की गति का दिग्दर्शन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार किसी गधे से कोई दूसरा गधा बन्धा होता है (अर्थात् किसी मूर्ख से कोई दूसरा मूर्ख बन्धा होता है) और वे दोनों एक दूसरे को जिधर चाहते हैं उधर ही ठेल देते हैं उसी प्रकार इस संसार के लोग एक दूसरे से बन्धे हुए हैं। कहने का भाव यह है कि इस संसार में ब्रह्म का सच्चा ज्ञान किसी को भी नहीं है और इस ज्ञान के अभाव में बस अज्ञानी पुरुष ही अज्ञानियों का मार्ग दर्शन करते हैं जिससे कोई लाभ नहीं होता। इसीलिए कबीरदास जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति को आत्मदृष्टि अर्थात् अपनी आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त हो गया है वही इस संसार में सच्चा व्यक्ति है।

जिन्होंने इस संसार में केवल एक परमात्मा को ही जान लिया है और अन्य किसी के पचड़े में वे लोग नहीं पड़े हैं।) उन्हें वास्तव में शान्ति प्राप्त होती है। जो लोग उसी परमात्मा के प्रेम में प्रीतिपूर्वक लवलीन रहते हैं उनको इस संसार में दुबारा नहीं आना पड़ता अर्थात् वे आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

इसीलिये कबीरदास जी का कहना है कि इस प्रकार का सम्पूर्ण ज्ञान जिसको प्राप्त हो जाता है ऐसा पूर्ण व्यक्ति सर्वांग सम्पूर्ण दृष्टि वाला होता है (अर्थात् वह समग्र जगत् को उसके वास्तविक रूप में देखता है और वही परब्रह्म को भी पा जाता है यह सब कुछ कहने के पश्चात् भी कबीर जी कहते हैं कि फिर भी उस परब्रह्म का रहस्य कुछ समझ में नहीं आता है।

विशेष—ज्यूं घर सूं घर बंधिया—इसी प्रकार मिलता-जुलता भाव कबीरदास जी की निम्नोद्धृत साखी में भी पाया जाता है जिसमें गुरु और चेले दोनों को अज्ञानी दिखाकर उनका परिणाम बताया गया है :—

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत॥

———

(३९)

रांम राइ कासनि करौं पुकारा,
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा॥टेक॥
इन्द्रो सबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं दरियाई।
लै धरि जांहि तहां दुख पइये, बुधि बल कछू न बसाई॥
मैं बपरौ का अलप मूढ़मति, कहा भयौ जे लूटै।
मुनि न सती सिध अरु साधिक, देऊ न आयै छूटै॥

जोगी जती तपी सन्यासी, अह निसि खोजैं काया।
मैं मेरी करि बहुत बिगूते, बिषै बाघ जग खाया॥
ऐकत छाँड़ि जाँहि घर घरनी, तिन भी बहुत उपाया।
कहु कबीर कछु समुझि न परई, विषम तुम्हारी माया॥

शब्दार्थ—बरियाई = जबरदस्ती, हठधर्म्यता। बपरौ = बेचारा, असहाय। बिगूते = नष्ट हो गये। बिषै = विषय। ऐकत = अकेली। **विषम** जो समझ में न आ सके, अविगत-गति।

भावार्थ—माया एवं उसके उपकरणों (इन्द्रियों आदि) के समक्ष अपनी निर्बलता सी स्वीकार करते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि हे राजा राम ! आप तो मेरे विषय में सब कुछ जानते ही हैं, भला मैं आपके सिवा और किससे अपनी व्यथा का निवेदन करूं। मेरी इन्द्रियाँ अत्यधिक बलशाली हैं और इनके सामने, मैं तो अत्यधिक दुर्बल हूं। ये सारी इन्द्रियां मिलकर मुझसे बहुत जबरदस्ती करती हैं। ये सब इन्द्रियाँ मुझको जहां कहीं भी ले जाती हैं वहां दारुण व्यथा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता। इन इन्द्रियों के समक्ष तो मेरी बुद्धि का भी कुछ बल नहीं चल पाता अर्थात् बुद्धि भी इन्द्रियों के समक्ष हार मान लेती है। इन इन्द्रियों के सामने तो मुनिजनों, सती स्त्रियों, सिद्धों और साधकों की भी न चल सकी और उन्हीं के कारण उनमें से कोई भी भक्त न हो सका फिर यदि मुझ जैसा बेचारा मन्दबुद्धि, मूर्ख व्यक्ति यदि इन इन्द्रियों द्वारा लूट लिया गया है तो इसमें मेरा ही क्या दोष है।

योगी, यती, तपस्या करने वाले और संन्यास धारण करने वाले जो जन नित्यप्रति शरीर को खोजते रहते हैं (अर्थात् शरीर में ब्रह्म को खोजने का प्रयास करते हैं) वे भी इस संसार में यह न जान सके कि इस संसार में मैं और मेरा के चक्कर में पड़कर न जाने कितने लोग विनष्ट हो गये और इस संसार में विषय रूपी बाघ ने सारे संसार

को ही चट कर डाला है। जो लोग घर और गृहस्थी को अकेली छोड़कर संन्यास धारण करके वन को निकल जाते हैं और बहुत उपाय करके तुम्हारी माया का भेद जानने का प्रयास करते हैं, कबीर-दास जी कहते हैं कि उन लोगों से भी आप की माया का भेद कुछ भी पता नहीं चलता। आपकी यह माया ऐसे विषम रूप वाली है अर्थात् आसानी से समझ में न आने वाली है।

---

(४०)

ऐसी रे अवधू की वांणी।
ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ।।टेक।।
जब लग गगन जोति नहीं पलटै।
अविनासी सूं चित नहीं चिहुटै ।।
जब लग भंवर गुफा नहि जानैं।
तौ मेरा मन कैसे मानैं ।।
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं।
ससिहर कैं घरि सूर न आनैं ।।
जब लग नाभि कंवल नहीं सोधै।
तौ हीरैं हीरा कैसैं बेधै ।।
सोलह कला संपूरण छाजा।
अनहद कै घरि बाजैं बाजा ।।
सुषमन कै घरि भया अनन्दा।
उलटि कवल मेटे गोव्यंदा ।।
मन पवन जब परचा भया।
ज्यूं नाले रांपी रस भइया ।।
कहै कबीर घटि लेहु विचारी।
औघट घट सींचि ले क्यारी ।।

शब्दार्थ—कूवटा = कूप, कुआँ। जोति = ज्योतिस्वरूप ब्रह्म। चिहुटै = लगे, अवस्थित हो। भंवर गुफा = ब्रह्म रन्ध्र। त्रिकुटी संधि = आँख, नाक और मस्तिष्क के मिलने का स्थान, दोनों भौहों के बीच का स्थान। ससिहर = चन्द्रमा अर्थात् पिंगला नाड़ी। सूर = सूर्य अर्थात् इड़ा नाड़ी। नाभि कँवल = नाभि में स्थित मणिपूरक चक्र जिसमें दल होते हैं। इस चक्र पर चिंतन करने से साधक इच्छाओं का स्वामी हो सकता है। वह इच्छा अनुसार किसी दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस चक्र पर चिंतन करने से साधक को स्वर्ण-निर्माण की शक्ति और गुप्त-धन की दृष्टि भी प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ—योगी के उपदेश को समझते हुये कबीरदास जी कहते हैं कि वह इस प्रकार है कि ऊपर शून्य लोक में एक कुआँ है किन्तु उससे पानी भरने का साधन अर्थात् कुण्डलिनी नीचे स्थित है, जब तक साधक को गगन-मण्डल में स्थित उस परमज्योतिस्वरूप परब्रह्म के दर्शन नहीं होते तब तक भला उसका कभी न विनष्ट हो सकने वाले परमात्मा में कैसे मन लग सकता है। कबीरदास जी अपने को साधक के रूप में मानते हुये कहते हैं कि जब तक मुझे ब्रह्मरन्ध्र का भी ज्ञान प्राप्त न हो तब तक भला मुझे किस प्रकार सन्तोष प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार जब तक किसी भी साधक को दोनों भौंहों के बीच में स्थित आँख, नाक एवं मस्तिष्क के सन्धि-स्थल रूपी त्रिकुटी के स्थान का ज्ञान न प्राप्त हो तब तक वह चन्द्रमा और सूर्य को अर्थात् इड़ा और पिंगला को किस प्रकार एकमेक कर सकता है। कहने का भाव यह है कि आज्ञा चक्र में स्थित त्रिकुटी संधि का ज्ञान प्राप्त हो जाने से साधक को इड़ा और पिंगला का अन्तर मिट जाता है। जब तक साधक नाभि के समीप स्थित मणिपूरक चक्र का भेदन न कर ले अर्थात् इस चक्र पर चिंतन न कर ले तब तक उसे हीरों का हीरा अर्थात् महाप्रभु कैसे मिल सकता है। कहने का भाव यह है कि साधक को मणिपूरक चक्र

पर चिंतन करने से ही पारब्रह्म की प्राप्ति होती है । सोलहों कलाओं से सम्पूर्ण वह परमात्मा वहाँ सुशोभित होता है जहाँ पर घण्टे की चोट पर निरन्तर अनहद नाद का घोष होता रहता है । कहने का भाव यह है कि ब्रह्मरन्ध्र वाले सहस्र दल युक्त कमल में ब्रह्म का निवास है और योगी द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने पर उसे वहीं पर अनहद नाद सुनाई पडता है । जब योगी अपनी सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग द्वारा यहाँ पहुंचता है तो उसके हृदय में अपरिमित आनन्द का सृजन होता है और इस प्रकार उसकी इस उल्टे मार्ग द्वारा (कुण्डलिनी के नीचे से ऊपर चलने के कारण उल्टा मार्ग कहा गया है। गोबिन्द से (सहस्रदल कमल में) भेंट होती है । इस रूप में जब मन का प्राणायाम (के साधन द्वारा परमात्मा) से परिचय होता है तो मन और परमात्मा दोनों इस प्रकार एकमेक हो जाते हैं जिस प्रकार नाले आदि का जल गंगा आदि के बहते जल में मिलकर एकमेक हो जाता है (और इस प्रकार शुद्ध भी हो जाता है।) कबीरदास जी का कहना है कि इस प्रकार आप लोग अपने शरीर का विचार कर लीजिये और इसी रूप में अपने शरीर के अन्दर ही परमात्मा को प्राप्त करके आनन्द को प्राप्त करो ।

विशेष—इस पद में कबीरदास जी ने बताया है कि किस प्रकार इसी शरीर में षट् चक्र-वेधन, जो कि प्रकारान्तर से शरीर साधन ही है, के द्वारा परमात्मा की उपलब्धि होती है ।

---

(४१)

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ,

ज्यूं तेरा आवागवन मिटाइ ॥ टेक ॥

तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ ।

मन करि निहचल आसंण निहचल, रसनाँ रस उपजाइ ॥

चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पाषंड पाँच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ॥
हिरदं सींगी ग्यांन गुणि बाँधी खोजि निरंजन साचा।
कहै कबीर निरंजन की गति जुगति बिनाँ प्यंड काचा॥

शब्दार्थ—जंत्र = वाद्य यन्त्र। तत = परम तत्त्व। सारि = पुट। निहचल = निश्चल, दृढ़ और एकाग्र। बटवा = बटुआ। मेषली = मेखला। पाँच = पाँच इन्द्रियाँ—नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा। गुणि = रस्सी। प्यंड = पिंड, शरीर। काचा = कच्चा, व्यर्थ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मनुष्य! तुम योगी का रूप धारण करके शरीर को ही एक वाद्य-यन्त्र बना लो जिससे तुम्हारा इस संसार में आवागमन का चक्र ही सदैव के लिये समाप्त हो जाय। अब यह स्पष्ट करते हुये कि इस शरीर को किस रूप में वाद्ययन्त्र बनाना चाहिये, कबीरदास जी कहते हैं कि तुम परम तत्त्व को ही उस वाद्य-यन्त्र की ताँत बना लो और धर्म को उस वाद्य-यन्त्र की डंडी बना लो। इसके बाद उसमें सत्य का पुट दे दो। इसके उपरान्त अपने मन को सब प्रकार से (भगवान् के ध्यान में दृढ़ एवं निश्चल करके एकाग्र रूप से समाधिस्त हो जाओ और अपनी जिह्वा में भगवान् के नाम का रस उत्पन्न करो अर्थात् ईश्वर का नाम निरन्तर जपा करो अपने मन को तुम योगियों का बटुआ बना लो और अपनी त्वचा को उनकी मेखला बना लो। अपने काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह को भस्म करके उनकी भस्म को अपने शरीर पर योगियों की भाँति धारण कर लो। तदन्नतर सब प्रकार से पाखण्ड का त्याग करके पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह करो और फिर इस सृष्टि में परम पद को धारण करने वाले परब्रह्म की खोज करो। अपने हृदय की सींगी बनाकर उसको ज्ञान की रस्सी में बाँध दो अर्थात् हृदय में ज्ञान प्रकाश होने दो और इस रूप में सच्चे सर्वथा निर्लेप ब्रह्म की खोज करो। कबीरदास

जी कहते हैं कि इस निर्लेप ब्रह्म की गति जान का उपाय किये बिना यह व्यर्थ ही है।

स्पष्टीकरण—इस पद में कबीरदास जी ने मनुष्य का तम्बूरा आदि वाद्य यन्त्र धारण करने वाले योगी के रूप में वर्णन किया है और उनका विचार है कि मनुष्य इसी रूप में ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। योगी के पास जो तंबूरा आदि होता है उसमें एक डण्डी होती है जिस पर सरेस आदि के पुट द्वारा ताँत लगी होती है। यहां कबीरदास जी ने परम तत्त्व को इस वाद्य-यन्त्र की ताँत, धर्म को उस वाद्य-यन्त्र की डण्डी और सत्य को उस वाद्य-यन्त्र में दिया जाने वाला पुट कहा है। योगी भी गीत गाया करते हैं। कबीर ने भी अपनी जीभ से राम-नाम का जाप करने की सलाह दी है। थैली (बटुआ), मेखला और शरीर पर भस्म योगियों के विशेष चिन्ह होते हैं। यहाँ चित्त थैली, त्वचा मेखला और काम क्रोध आदि की भस्म ही योगियों के शरीर पर लगाई जाने वाली भस्म है। सिंगी भी योगियों का विशेष चिन्ह होता है सो कबीरदास जी ने भी यहां पर हृदय को सिंगी बनाने का आदेश दिया है। इस प्रकार कबीरदास जी ने प्रकारान्तर से संन्यास धारण करने वालों को सच्चा योगी बनने की सलाह दी है।

---

(४२)

अब न बसूं इहि गांइ गुसाईं।
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो रांम ॥टेक॥
नगर एक तहां जीव धरम हता, बसैं जु पंच किसानां।
तैनूं निकट श्रवनूं, रसनूं,
इंद्री कह्या न मानैं हो राम ॥
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारैं,
सब मिलि मीकौं मारैं हो रांम ॥

धरमराइ जब लेखा मागा, बाकी निकसी भौरा।

पाच किसानां भाजि गये हैं,

जीवधर बाँध्यौ पारी हो रांम ॥

कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बाँधौ मेरा।

अबकी बेर बकसि बंदे कौं,

सब खत करौं नबेरा ॥

शब्दार्थ—गांइ शरीर रूपी ग्राम। नेवगी = नेंगी, नेग लेने वाले, हिसाब लेने वाले। जीव धर्म हता = जीवात्मा, जिसका धर्म नष्ट हो गया है। नैंनूं = नेत्र। निकट = नाक। श्रवनू = कान। रसनूं = जिह्वा। इंद्री = इंद्रिय अर्थात् त्वचा। गांइ कु ठाकुर = काल। काइथ = मन रूपी कायस्थ, पटवारी। जोरि जेवरी = जर्जर बन्धन। लेखा = हिसाब। पाँच किसानां = पाँच इंद्रियां। बकसि = क्षमा कर दो। खत = हिसाब, बकाया। नबेरा = चुकता।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी की भगवान् से प्रार्थना है कि वह अब इस शरीर रूपी गांव में नहीं रहना चाहते हैं और यदि भगवान् एक बार उनको उनके पहले के पापों के लिये क्षमा कर दें तो वह भविष्य में अवश्य ही अपने सत्कर्मों के द्वारा पाँच किसान रूपी इन्द्रियों द्वारा किये हुये सारे कर्मों का हिसाब अच्छे कर्मों द्वारा चुकता कर देंगे।

भावार्थ—कबीरदास जी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हे राम! मैं इस शरीर रूपी गाँव में नहीं रहूंगा क्योंकि यहाँ पर आप के नेग लेने वाले अत्यधिक चतुर हैं। कहने का भाव यह है इस शरीर रूपी गाँव में सारे कर्मों का पूरा-पूरा हिसाब देना पड़ता है और इस कारण कबीरदास जी को यहाँ से निकलने की इच्छा हो रही है। कबीरदास जी आगे कहते हैं कि इस नगर में रहने के कारण ही यहां के जीवात्मा का

धर्मभ्रष्ट हो गया है और यहाँ पर जो पाँच किसान—नेत्र, नाक, कान, जीभ और त्वचा हैं वे सब इस जीव रूपी स्वामी का कोई भी कहना नहीं मानते हैं। इस गाँव का जो ठाकुर है अर्थात् काल वह तो समय-समय पर इस खेत को नापता रहता है और मन रूपी कायस्थ पटवारी भी अपना हिस्सा नहीं छोड़ता है। कहने का भाव यह है कि इस गाँव में काल रूपी स्वामी तो पल-पल में यह देखता रहता है कि मैं कहीं इस शरीर को खराब तो नहीं कर रहा हूं और पटवारी का रूप धारण किये हुये मन भी क्षण-क्षण में मुझसे शरीर का व्यौरा माँगता रहता है जिससे मैं अपनी इच्छानुसार इस शरीर का उपभोग नहीं कर पाता हूं। इस प्रकार इस मन ने मेरे इस शरीर को जर्जर बन्धनों रूपी विषय वासनाओं के बन्धनों में बुरी तरह जकड़ दिया है जिसके कारण मेरे शरीर को अत्यधिक कष्ट होता है। जब शरीरान्त होने पर धर्मराज जी मुझसे इस शरीर का पूरा हिसाब-किताब मांगेंगे तो बहुत अधिक बकाया मेरी ओर निकलेगी। इसके अतिरिक्त जिस समय धर्मराज जी मुझसे यह सारा हिसाब लेने के लिये खड़े हुये हैं तो मेरे वे पाँचों किसान रूपी इन्द्रियाँ भी मुझसे पृथक् हो गये हैं और जीव को धारणा करने वाली आत्मा को ही सब प्रकार के बन्धनों में बाँध गया है। इसीलिये कबीरदास जी का कहना है कि हे साधुओ, आप मेरे कहने को भली प्रकार से मान कर केवल हरि का ही भजन कीजिये। इसके उपरान्त कबीरदास जी भगवान् से प्रार्थना करते हुये कहते है कि हे भगवान् आप इस बार तो मुझ बंदे को क्षमा कर दीजिये फिर मैं आपका सारा हिसाब चुकता कर दूंगा।

विशेष—१. इस पद में कबीरदास जी ने शरीर को एक ग्राम का रूपक देते हुये इस ग्राम से अपने आपको मुक्त करने की इच्छा प्रकट की है।

२. इन्द्रियों के पाँचों नाम नैनू, निकटू श्रवनू, रसनु इन्द्री—

इसी प्रकार लिये गये हैं जिस प्रकार से कोई अत्यधिक क्रोध में आकर किसी को गालियाँ देता है।

३. यदि मनुष्य पाप कर्म करता है तो उसका शरीर दुर्बल हो जाता है यही यहाँ पर काल द्वारा खेत का नापना कहा गया है।

४. विषयों के बन्धन जहाँ एक ओर अत्यन्त जर्जर होते हैं वहाँ वह शरीर को भी दुर्बल कर देते हैं। इन बन्धनों से मनुष्य को कष्ट होना भी स्वाभाविक ही है।

५. मरणोपरान्त जब जीव धर्मराज के पास जाता है तो उसकी इन्द्रियाँ तो पलायन कर चुकी होती हैं पर उन सबका हिसाब आत्मा को ही देना पड़ता है।

(४३)

फिरहु का फूले फूले।

जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूले ॥
जब जरिऐ तब होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई।
कांचै कुंभ उदिक ज्यौं भरिया या तन की इहै बड़ाई ॥
ज्यौं मांखी सहतैं नहि बिहरै जोरि जोरि धन कीन्हाँ।
मुएं पीछै लेहु लेहु करै भूत रहन क्यूं दीन्हाँ ॥
देहरि लौं बरी नारि संग हैं आगै सजन सहेला।
मरघट लौं सभ लोग कुटुंब भयौ आगै हंसु अकेला ॥
रांम न रमहु मोह कहा माते परहु काल बस कूवा।
कहै कबीर नर आपु बंधायौ ज्यूं नलिनी भ्रमि सूवा ॥

शब्दार्थ—उरध मुखि = गर्भावस्था में उल्टे मुंह। मांखी = शहद की मक्खी। बरी = ब्याहता, हुई। सजन सुहेली = स्वजन एवं साथी। कूवा = अज्ञान का कुआँ। नलनी = सेमर के वृक्ष की फली जो देखने में अत्यन्त सुन्दर अरुण वर्ण की रहती है किन्तु उसके भीतर रुई भरी रहती है।

भावार्थ—संसार के ऐश्वर्य आदि से मदमत्त मानव को सम्बोधित करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि हे मानव ! तू गर्व के कारण फूला-फूला क्यों फिर रहा है। इस समय तू मानव के गर्भ में रहने के समय की उस व्यथा को क्यों भूल गया है जो तुझे गर्भ में नीचे की ओर मुंह करके दस महीने तक रहने के कारण हुई थी। (जन्म के समय तो इतनी व्यथा हुई थी ही अब मरण के समय भी) जब तेरा शरीर जल जाएगा तो केवल यह भस्म होकर ही रह जाएगा और यदि नहीं जलेगा पड़ा ही रहेगा तो केवल कीड़े आदि ही उस को खाएंगे। जिस प्रकार कि कच्चे घड़े में पानी भरा होता है ठीक वही गति इस मानव शरीर की ही है। कहने का भाव यह है कि जिस रूप में कच्चा घड़ा पानी से भरा होने पर जल्दी ही फूट जाता है और सारा पानी बिखर जाता है उसी प्रकार यह शरीर भी जल्दी ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार से कोई मधुमक्खी जरा-ज़रा सा कर के शहद संचित कर लेती है उसी प्रकार तुमने भी थोड़ा-थोड़ा करके बहुत सा धन एकत्रित कर लिया है। तुम्हारे इस धन को ही सब तुम्हारे मर जाने के बाद आपस में लो-लो कहते हुए बांट लेंगे और तुम्हारे शरीर को उठा कर फैंक देंगे क्योंकि भूत को कौन घर के अन्दर रखना चाहता है। कहने का भाव यह है कि तुम्हारे मरने के बाद सब लोग तुम्हारे द्वारा कौड़ी-कौड़ी करके इकट्ठा किया हुआ धन आपस में बांट लेंगे तुम को अनावश्यक भूत के सदृश घर से बाहर उठा कर फैंक देंगे। मनुष्य के मर जाने पर उसके द्वारा विवाहिता स्त्री घर की देहली (द्वार) तक उस का साथ देती है और स्वजन तथा संभ्रांत व्यक्ति आगे (घर से बाहर) ले जाते हैं। घर से बाहर कुटुम्ब के सारे लोग श्मशान-भूमि तक ही मनुष्य के साथ जाते हैं और आगे तो फिर जीवात्मा को अकेले ही सारी यात्रा करने होती है।

इसलिये कबीरदास जी मानव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम राम में क्यों नहीं रमते हो अर्थात् राम-राम का ही जप क्यों

नहीं करते हो और इन सांसारिक विषयों में मस्त होकर अन्त समय में काल के कुएं में पड़ने हो। मानव की ही इसी प्रवृत्ति को एक दृष्टांत के द्वारा स्पष्ट करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार मानव स्वयं ही काल के द्वारा पकड़ा जाकर कुएं में गिर जाता है जिस प्रकार कोई तोता चोर के धोखे में नलनी पर आकर बैठ जाता है किन्तु वहां पर उस को रूई के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य भी इसी संसार के माया-जाल में भ्रमित हो गया है।

विशेष—इस पद में कबीरदास जी ने दिखाया है कि किस प्रकार ईश्वर के सामने मानव सब प्रकार से तुच्छ ही है।

अलंकार—उपमा, रूपक एवं दृष्टान्त।

---

(४४)

एक अचम्भा ऐसा भया, करणीं थैं कारण मिटि गया ॥ टेक ॥
करणी किया करम का नास। पावक मांहि पुहुप प्रकास ॥
पुहुप मांहि पावक प्रजरै। पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै ॥
प्रगटी बात वासना धोइ। कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोई ॥
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई। भौ भ्रम भाग ऐसौ भई।
उलटी गंग मर कूं चली, धरती उलटि अकासहि मिली ॥
दास कबीर तत ऐसा कहै। ससिहर उलटि राह कौं गहै ॥

शब्दार्थ—करणी = साधना, कर्म। कारण = सृष्टि का मूल कारण परब्रह्म। पावक = परम ज्योति। पुहुप सहस्रदल कमल। पावक = अत्यधिक प्रकाशवान् ईश्वर। बास = सुगन्ध। कुल = सम्पूर्ण ब्रह्म। कुल परिवार। उपजी च्यंत = भगवान् के दर्शन हो गए। च्यंत चिन्ता भौ-भ्रम = भव-भ्रम, सांसारिक भ्रम। गंग कुण्डलिनी। मेर कूं चली = पहाड़ की ओर चली अर्थात् ऊर्ध्वगामिनी हो गई।

मलटि अकासाह मिली = गगनमण्डल में विस्फोट किया, शून्य, मण्डल में विस्फोट किया। ससिहर = परमात्मा। राह = माया-मोह।

प्रसंग—यह पद कबीरदास जी की एक प्रसिद्ध उलटबांसी है यहां पर आपने उलटबाँसियों के माध्यम से ही साधना का फल स्पष्ट किया है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में एक ऐसा आश्चर्य हुआ कि साधक द्वारा साधना (का कर्म) करने से उस का बन्धन का कारण ही समाप्त हो गया और उस को इस सृष्टि के मूल कारण रूपी ब्रह्म की उपलब्धि हो गई। साधक की इस साधना से उसके कर्मों का सारा जाल भी विनष्ट हो गया और परम ज्योति के मध्य में सहस्रदल कमल विकसित हुआ। उस सहस्रदल कमल के बीच में ही अत्यधिक ज्योति या परमात्मा का निवास है जिस के दर्शनों से मनुष्य का पाप और पुण्य दोनों का ही सारा भ्रम दूर हो जाता है। इस सहस्रदल कमल की सुगन्ध के विकीर्ण होते ही मनुष्य की सारी वासना नष्ट हो गई और मनुष्य द्वारा परिवार आदि का मोह त्याग देने से ही सम्पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति हो गई। ईश्वर का दर्शन हो जाने से उस साधक की सारी चिन्ताएं भी समाप्त हो गईं और उस साधक का ऐसा भाग्य हुआ कि उसका इस संसार के विषय में समस्त भ्रम भी समाप्त हो गया। साधक की साधना से ही उस की कुण्डलिनी ऊर्ध्व-गामिनी हो गई और उस से ही शून्यमण्डल में विस्फोट हुआ जिससे साधक को आनन्द नाद की ध्वनि सुनाई देने लगी।) कबीरदास जी इस रूप में एक ऐसी तत्त्व की बात कह रहे हैं कि इस प्रकार परमात्मा ने साधक के समस्त मोह को नष्ट कर दिया।

विशेष—इस उलटबांसी में हम देखते हैं कि कबीरदास जी ने किस प्रकार सामान्यतः विपरीत कथनों के माध्यम से ही साधक की साधना का फल प्रदर्शित किया है। इस प्रकार के विपरीत कथनों में

प्रतीकों का प्रयोग अवश्यम्भावी होता है। यहां पर भी कबीरदास जी ने प्रारम्भ से अन्त तक प्रतीकों का प्रयोग किया है उदाहरण के लिये करणी साधना का, पुहुप सहस्रदलकमल का, पावक परम ज्योति और परब्रह्म का प्रतीक है। इसी प्रकार इस पद में अलंकारों का भी कबीरदास जी ने विशेष प्रचुरता से प्रयोग किया है। यमक, रूपक, विरोधाभास और रूपकातिशयोक्ति अलंकार तो इस उलटवांसी में स्थान-स्थान पर ही संजोए हुए हैं।

---

(४५)

विष्णु ध्यांन सनान करि रे, बाहरि अंग न धोई रे।
साच बिन सीझसि नहीं, कांई ग्यान दृष्टैं जोइ रे ॥टेक॥
जंजाल मांहैं जीव राखै, सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअन्तरि भेदै नहीं, कांई बाहरि न्हावै नीर रे।
निहकर्म नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे।
ओधूत जोगी आतमां, कांई पेडैं संजमि न्हाहि रे।
इला प्यंगुला सुषमनां, पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कुसमल झड़ें कांई मांहि लौ अंग पाषालि रे।

शब्दार्थ—सीझसि = दृष्टिगत होता है। जोइ = दिखाई देता है। निहकर्म = निष्काम कर्म। ओधूत—अवधूत, साधक। संजमि = संयम।

भावार्थ—कबीरदास जी बाहर से मल-मल कर स्नान करते हुए मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य! तू केवल बाहर से अपने शरीर के अंगों को धो-धो कर साफ न कर वरन् विष्णु का ध्यान करते हुए आन्तरिक स्नान कर (अर्थात् विष्णु का ध्यान करने से मनुष्य की अन्तरात्मा तक निर्मल हो जाती है।) परमात्मा के दर्शन बिना सत्य के नहीं हो सकते हैं। उसके दर्शन करने के लिये तो वास्तव में ज्ञान-दृष्टि की ही आवश्यकता होती

है। **पुनः** मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! तूने जीव को संसार के माया जाल में इतना अधिक फसा रखा है कि उसे अपने शरीर तक की सुधि नहीं रह गई है। कहने का भाव यह है कि संसार के पचड़ों में पड़कर मनुष्य अपने शरीर के भेदों तक को भूल बैठा है। इसीलिये तो मनुष्य अपने अन्दर के मन, हृदय आदि का कलुष तो दूर नहीं करता है और केवल बाहर-बाहर ही पानी गिराता रहता है। वास्तव में तो निष्काम कर्म की नदी, जिसमे ज्ञान का जल प्रवाहित होता है शून्य मण्डल में ही प्रवाहित होती है। इस नदी में कोई संन्यासी एवं योगी योग का आचरण करने वाला) जीव सयम के द्वारा प्रविष्ट करके स्नान कर सकता है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के समन्वय से कुण्डलिनी द्वारा गगन-मण्डल में विस्फोट होता है और उस विस्फोट के अनन्तर गगन मण्डल से अमृत प्रस्रवित होता है। कबीरदास जी कहते हैं कि यदि कोई साधक चाहे तो वह इस अमृत से स्नान करके अपने सभी अंगों को शुद्ध बना सकता है।

विशेष—इस पद में कबीरदास जी ने उन साधकों की प्रबल भर्त्सना की है जो केवल पूजा और बाहरी साधना आदि में ही अपना सारा समय गंवा देते हैं और कभी आन्तरिक रूप से अपने आप को निर्मल करने का प्रयास नहीं करते हैं।

---

(४६)

साधो, ब्रह्म अलख लखाया।

जब आप आप दरसाया ॥

बीज-मद्ध ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा-मद्ध छाया ॥

ज्यों नभ-मद्ध सुन्न देखिए, सुन्न अनन्त अकारा ॥

निः अच्छरते अच्छर तैसे, अच्छर छर विस्तारा ॥

ज्यों रवि-मद्ध करन देखिये, किरन मद्ध परकासा ॥
परमातम में जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा ॥
स्वाँसा मद्धे शब्द देखिये, अर्थ शब्द के माहीं ॥
ब्रह्म ते जीव जीवते मन यों, न्यारा मिला सदा ही ॥
आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ भाया ॥
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, स्वाँस शब्द अरथाया ॥
निःअच्छर अच्छर धरं आपै, मन जीव ब्रह्म समाया ॥
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँई ॥
झाँई में परछाई दरसै, लखै कबीरा साँई ॥

शब्दार्थ—बृच्छा = वृक्ष । निःअच्छरते = निरक्षर, अक्षर-रहित । अच्छर = जिसका विनाश न हो । अंकुरा = अंकुरित किया ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे साधो ! जब मनुष्य अपने आप ही परमात्मा को पा लेता है तो उसको न दिखाई देने वाला परब्रह्म भी दिखाई देने लगता है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य के अन्दर ही परमात्मा का वास है। जब मनुष्य इस भेद को जान जाता है तो उसे वही परमात्मा जो अब तक न देखने योग्य था दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार बीज के अभ्यन्तर में ही वृक्ष होता है (अर्थात् एक छोटे से बीज में भविष्यत् काल का महान् वृक्ष सन्निहित होता है।) और वृक्ष में ही छाया होती है (जो प्रकाश आदि पड़ने पर प्रकट होती है।) जिस प्रकार आकाश के बीज में शून्य-शून्य दिखाई देता है और उस शून्य में असीम आकार दिखाई देता है अर्थात् वह शून्य अनन्त आकार वाला होता है ठीक उसी प्रकार इस सृष्टि में रमने वाला सर्वथा अक्षरों से परे ब्रह्म भी मनुष्य के लिये अक्षरयुक्त हो जाता है और उस कभी न विनष्ट होने वाले परमात्मा से ही इस विनष्ट होने वाले समस्त संसार का प्रसार होता है।

इसी प्रकार परमात्मा के मध्य में आत्मा का वास होता है और आत्मा के अन्दर ही मनुष्य की श्वास सन्निहित होती है। मनुष्य की श्वास के अन्दर ही शब्द रहता है और शब्द में ही उसका अर्थ सन्निहित होता है। इस प्रकार ब्रह्म से जीव का उद्‌गम होता है और जीव से मन का उद्‌भव होता है। इस प्रकार से यह सारा कार्य अत्यन्त अद्‌भुत ही है। परमात्मा रूपी वृक्ष ने इस संसार में स्वयं ही जीव रूपी अंकुरों को अंकुरित किया है। और स्वयं ही उसने इस वृक्ष के फूल, फल आदि को इस संसार में चारों ओर फैलाया है। (कहने का भाव यह है कि इस संसार के समस्त विस्तार भी परमात्मा द्वारा ही किये गये हैं।) सूर्य ने अपने आप ही अपनी किरणों को प्रकाशित किया है अर्थात् जब स्वयं ब्रह्म की कृपा होती है तभी जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार स्वयं ब्रह्म ही जीव के हृदय को अच्छा लगता है। कहने का भाव यह है कि स्वयं ब्रह्म की प्रेरणा से ही जीव को ब्रह्म अच्छा लगने लगता है। अनन्त आकार वाला एवं शून्य के गुण वाला यह आकाश स्वयं ही शब्द के अर्थ को स्पष्ट करता है। कहने का भाव यह है कि शब्द का शून्य गगन से उद्‌भव होता है और स्वयं गगन की प्रेरणा से ही शब्द का अर्थ ध्वनित होता है। निरक्षर, अर्थात् जिसको अक्षरों द्वारा वर्णित करना सम्भव नहीं होता, ब्रह्म स्वयं ही अक्षरों को धारण करता है और इस रूप में ही मन जीव में और जीव ब्रह्म में समाता है। कहने का भाव यह है कि जब अक्षरातीत ब्रह्म का वर्णन साधक अक्षरों के माध्यम से करने योग्य हो जाता है अर्थात् साधक को अक्षरातीत ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं तभी उसका मन अपने उद्‌गम स्थल जीव में और जीव अपने उद्‌गम-स्रोत ब्रह्म में समा जाता है। यह सब होने पर ही साधक को अपनी आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं और परमात्मा में अपने जीव का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है। इस प्रतिबिम्ब में भी उसको ब्रह्म की ही परछाईं दिखाई देती है और इस प्रकार कबीरदास जी को उस स्वामी परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

विशेष अन्तिम दो पंक्तियों को स्पष्ट करने के लिये आमने-सामने रखे हुये दो दर्पणों का उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार इन दर्पणों में केवल वही एक-एक दर्पण नहीं दिखाई देता वरन् एक के अन्दर एक दर्पण के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-बिम्ब-प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्ब आदि की श्रेणी सी दिखाई देती है ठीक उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की छाया मनुष्य को दिखाई देती है।

---

(४७)

साधो, सब्द-साधना कीजै।
जे ही शब्द ते प्रगट भये सब सोई शब्द गहि लीजै॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहि अन्तर-गति सूझै।
शब्द वेद-पुरान कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहते हैं, शब्द-भेद नहि पावै॥
शब्दै सुन-सुन भेष धरत है, शब्द कहै अनुरागी।
षट्-दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहै बैरागी॥
शब्दै काया जग उतपानां, शब्द केरि पसारा।
कहै कबीर जहं शब्द होत हैं, भदन भेद है न्यारा॥

शब्दार्थ—अन्तर-गति सूझै = शरीर के अभ्यन्तर की गति दिखाई देती है।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी ने दिखलाया है कि किस प्रकार इस समस्त संसार में केवल एक शब्द ही सब ओर व्याप्त है'

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे साधो ! आप तो इस संसार में केवल एक शब्द की ही साधना कीजिये। (इस शब्द साधना से ही तुम्हारी अन्य सब साधनाएं भी पूर्ण हो जायेंगी।) जिस शब्द से ही इस संसार में सब कुछ प्रकट हुआ है आप उस शब्द को ही अच्छी प्रकार से ग्रहण कर लीजिये। शब्द का महात्म्य जानकर ही गुरु इस

पद को पा सके हैं और शब्द सुनकर ही शिष्य सच्चा शिष्य होता है। शब्द का भेद तो कोई विरला ही जान सकता है। इस संसार में वही महात्म्य-युक्त है और वही गुरु महिमावान् है जिसको (शब्द के ज्ञान द्वारा) अपने शरीर के अभ्यन्तर की गति का ज्ञान है। सारे वेद पुराणों में भी शब्द का ही कथन किया गया है (कहने का भाव यह है कि समस्त वेद-पुराणों आदि का प्रणयन शब्द के ही माध्यम से हुआ है।) और शब्द को ही सबसे उच्च सिद्ध किया है। देवता, मुनि और सन्त भी (भगवान् का नाम-जप करने के रूप में) शब्द का ही कथन करते हैं और फिर भी वे इस शब्द का भेद नहीं पा पाते हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् के नाम का जाप करते हुये भी वे लोग यह नहीं जान पाते हैं कि शब्द द्वारा कौन सा अर्थ द्योतित होता है। शब्द सुनसुन कर ही लोग संन्यासी का भेष धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् के नाम को सुनकर ही मानव के हृदय में ऐसी लौ लगती है कि वह इस संसार का परित्याग करके संन्यास ले लेता है। शब्द कहने से ही मनुष्य अनुरागी बनता है अर्थात् 'मनुष्य जितना-जितना भगवान् का नाम जपता जाता है उतना-उतना ही उसके हृदय में भगवान् का प्रेम घर करता जाता है। वेदान्त, सांख्य आदि छहों दर्शनों में भी शब्द का ही वर्णन किया गया है और वैराग्य धारण करने वाले भी शब्द का कथन कर-करके ही विरागी बनते हैं। शब्द से इस संसार में मनुष्य की काया की उत्पत्ति हुई है और शब्द का ही प्रसार इस सारे संसार में दिखाई देता है। इसीलिये कबीरदास जी का कहना है कि जिस स्थान पर शब्द होता है अर्थात् भगवान के नाम का जाप होता है उस घर की बात ही अलग होती है।

---

(४८)

साधो पाँड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाए, दिल में दरद न आई।
कर अस्नान तिलक दे बैठे, विधि सों देवि पुजाई॥

आतम मारि पलक में विनसे, रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊंचे कुल कहिए, सभा मांहि अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हंसि आवे मोहि भाई।
पाप करन को कथा सुनावैं, करम करावैं नीचा।
बूढ़त दोउ परस्पर दीखे, गहे बांहि जम खींचा।
गाय बध सा तुरक कहावैं, यह क्या इनसे छोटे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलि में ब्राह्मण खोटे।

शब्दार्थ—निपुन कसाई = चतुर घातक। आतम मारि = आत्मा को मार कर। रुधिर = रक्त। पुनीत = पवित्र। दिच्छा = दीक्षा।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कबीरदास जी हिंसात्मक यज्ञ-विधानों के पुरोहित ब्राह्मणों की आलोचना करते हैं।

भावार्थ—संतो! पुरोहितगण अत्यन्त चतुर कसाई हैं। ये (यज्ञ में) बकरी का वध करके भेड़ के वध का उपक्रम करते हैं, वास्तव में इनके हृदय में तनिक भी सहानुभूति का निवास नहीं है।

ये स्नान करके तिलक मंडित होकर शास्त्रीय विधि-विधान से पूजा करके यज्ञ की वेदी पर बैठे हुये हैं। ये क्षण भर में ही आत्मा को मार कर अर्थात् जीव हत्या करके (पशु देही) को नष्ट कर देंगे और रक्त की सरिता प्रवाहित करेंगे।

ये ब्राह्मण अत्यन्त पवित्र और उच्च कुल के कहलाते हैं, सभा-समाजों में इनकी अत्यधिक मान्यता है अथवा ये समाज में बहुत संख्या में हैं। समाज का प्रत्येक प्राणी इन (कसाई तुल्य हृदयहीन) ब्राह्मणों से ज्ञान की दीक्षा माँगता है, इस पर कबीर कहते हैं कि मुझे हँसी आती है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को मार बैठे हों हिंसक हों वे अज्ञानी हैं और ये अज्ञानी कैसे किसी को ज्ञान की दीक्षा दे सकते हैं।

ये ब्राह्मण पापपूर्ण कृत्यों को करने की प्रेरणा देने वाली कथा

सुनाते हैं अर्थात् जीवों की बलि देने जैसे परम निन्द्य कर्मों को करने की प्रेरणा देते हैं। साथ ही ये समाज के जनों से नीचतापूर्ण कर्म अर्थात् जीव-हत्या करवाते हैं। ये तथा इनके अनुयायी दोनों ही (अज्ञान के सागर में) साथ डूबते दिखलाई देंगे और इनकी बांह को यम पकड़ कर खींचेगा अर्थात् ये जीव हत्यारे नरक में जायेंगे।

जो गाय की हत्या करता है वह मुसलमान कहलाता है, तो क्या ये ब्राह्मण जीवहिंसा में मुसलमानों से छोटे हैं अर्थात् ये भी मुसलमानों के तुल्य ही निन्द्य हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि संतो! सुनो कलियुग में ब्राह्मण दुष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि कलियुगी ब्राह्मण उच्च ज्ञानगरिमा से हीन वितंडावादी होते हैं।

---

(४९)

अवधू, भजन भेद है न्यारा।

क्या गाये तथा लिखि बतलाये, क्या भर्मे संसारा॥
क्या संध्या- तरपन को कीन्हें, जो नहि तत्त विचारा॥
मूंड़ मुड़ाये सिर जटा रखाये, क्या तन लाये छारा॥
क्या पूजा पाहन की कीन्हें, क्या फल किये अहारा।
बिन परिचे साहिब ह्वै बैठे, विषय करै व्योभारा॥
ज्ञान-ध्यान का मर्म न जानै, वाद करै अहंकारा।
अगम अथाह महा अति गहरा, बीज न खेत निवारा॥
महा सो ध्यान मगन ह्वै बैठे, काट करम की छारा।
जिनके सदा अहार अंतर में, केवल तत्त विचारा॥
कहैं कबीर सुनो हो गोरख तारों सहित परिवारा।

शब्दार्थ—भर्मे = भ्रमित होने से। तत्त = सार। वाद = व्यर्थ में।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी दिखला रहे हैं कि इस संसार में किस प्रकार ईश्वर का भजन करने की महिमा न्यारी ही है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे अवधूत! भगवान् के सच्चे भजन का भेद अनोखा ही है। भगवान् के भजन केवल गाने से अथवा उनके विषय में लिख-लिख कर बतलाने से भी क्या होता है। इस संसार में (भजन का सच्चा रूप जाने बिना ही) भ्रमित होते रहने से भी क्या लाभ है, संध्या-तर्पण आदि के करने का भी क्या प्रयोजन है यदि तूने सारवस्तु का विचार ही नहीं किया। कबीर के कहने का भाव यह है कि इस संसार में मनुष्य को साररूप भगवान् का नाम ही ग्रहण करना चाहिये और उनके लिये सभी प्रकार के बाह्य मिथ्या साधनों का परित्याग ही करना चाहिये। सिर मुंड़ा लेने से अथवा सिर पर जटा धारण करने से (कुछ सम्प्रदाय वाले सिर मुंडा कर संन्यास ग्रहण करने का विधान करते हैं जबकि दूसरों में सिर पर जटाएं रख कर संन्यास लेने का विधान किया गया है। कबीर यहां पर दोनों को ही व्यर्थ का आडम्बर बतलाते हैं।) अथवा शरीर पर भस्म धारण करने से भी क्या होता है। तात्पर्य यह है कि केवल बाह्य भेष द्वारा संन्यासी होने का कोई लाभ नहीं। (बिना सच्ची भावना के) केवल पत्थर की पूजा करने अथवा फलों का आहार करने से भी क्या लाभ है। हिन्दुओं में व्रत रखने में लोग फलों का आहार करते हैं और पत्थर की मूर्ति रूपी भगवान् की पूजा करते हैं। यहाँ कबीरदास जी दोनों को ही व्यर्थ बतलाते हैं।) हे मानव तू साहिब अर्थात् प्रभु का बिना परिचय प्राप्त किये हुये ही बैठा हुआ है और साँसारिक विषयों में पूर्णरूपेण रत हुआ बैठा है इसके उपरान्त भी ज्ञान एवं भगवान के ध्यान का वास्तविक भेद बिना जाने हुये भी तू व्यर्थ में ही अहंकार करता फिरता है।

इसके उपरान्त कबीरदास जी फिर भगवद्भजन की महिमा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि वह तो कठिनाई से समझ में आने वाला अत्यधिक गहरा और इसीलिये अथाह है। इस भगवद्भजन का बीज भी किसी खेत में अंकुरित नहीं होता है। वही व्यक्ति वास्तव में महान्

है जो भगवान् के ध्यान में मग्न होकर समाधिस्थ बैठ जाता है और कर्मों के सारे बन्धनों को सब प्रकार से समाप्त कर देता है। जिन लोगों का खाना पीना भी सदैव हृदय में ही हुआ करता है अर्थात् जो बाहरी आहार की चिन्ता किए बिना भजन आदि के आन्तरिक आहार से ही सन्तुष्ट रहते हैं और केवल सारवस्तु अर्थात् भगवान् के सम्बन्ध में ही विचार करते रहते हैं, कबीरदास जी कहते हैं कि उन लोगों को गुरु गोरखनाथ जी उनके परिवारों सहित तार देते हैं। (कहने का भाव यह है कि गोरखनाथ जी के बतलाए हुये मार्ग का पालन करके मनुष्य सहज में ही अपने परिवार सहित इस संसार के समस्त बन्धनों से छूट जाता है।)

———

(५०)

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठ जहं, समुझि परै जब ध्यान धरै।।
बिना ताल जहं कंवल फुलाने,
तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।।
बिना चंदा उजियारी दरसै,
जहं तहं हंसा नजर परै।।
दसवें द्वार तारी लागी,
अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।।
काल कराल निकट नहिं आवै,
काम-क्रोध-मद-लोभ जरै।।
जुगत जुगत की तृषा बुझानी,
कर्म-मर्म-अघ-व्याधि टरै।।
कहै कबीर सूनो भाई साधो,
अमर होय कबहूं न मरै।।

शब्दार्थ—गगन गुफा = भंवर गुफा । हंसा = मुक्तात्मा । दसवें द्वार = ब्रह्मरन्ध्र । जुगत-जुगत = युग-युग ।

प्रसंग—इस पद में कबीरदास जी बतला रहे हैं कि किस प्रकार हठयोग की साधना के द्वारा साधक को अनहदनाद सुनाई देने लगता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जब साधक कुण्डलिनी के माध्यम से गगन-मण्डल में विस्फोट करता है तो उस समय वहाँ पर स्थित भंवर गुफा से अजस्र रस का प्रस्रवण होने लगता है । उस समय वहाँ पर साधक को अनहदनाद सुनाई देने लगता है जो कि ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे बिना किसी प्रकार के वाद्य-यन्त्रों के दीखे हुये ही उत्पन्न होने वाला मनमोहक शब्द । इस शब्द का रहस्य भी साधक को ध्यान करने पर जल्दी ही समझ में आ जाता है । उस भंवर गुफा में बिना ताल के ही कमल विकसित होते हैं (सहस्रदल कमल विकसित होता है । जिन पर चढ़-चढ़ कर मुक्तात्माएं क्रीड़ा किया करती हैं । विना चन्द्रमा के ही वहाँ पर उजियाली दिखाई देती है भंवर गुफा में सदैव परमज्योति का प्रकाश होता रहता है इसीलिये यह कहा गया है ।) और उस उजियाली के प्रकाश में जहाँ-तहाँ मुक्त आत्माओं के ही दर्शन होते रहते हैं वह कहीं न दिखाई देने वाला परमात्मा दसवें द्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता है और उसी परमपुरुष का ध्यान करने से साधक को उसकी प्राप्ति होती है । जब साधक इस अवस्था में पहुंच जाता है तो भयंकर काल तक उसके समीप नहीं आ पाता है और उसके काम, क्रोध, मद और लोभ आदि सभी कुछ जल कर नष्ट हो जाते हैं । उस स्थिति में उसकी युग-युग की प्यास बुझ जाती है अर्थात् युग-युग के साधक जिस लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है उसे वह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है और उसके सारे कर्मों का भेद सारे पाप और दुःख दूर हो जाते हैं । कबीरदास जी कहते हैं कि हे साधो । इस प्रकार से साधक सब प्रकार से अमर हो जाता है और फिर उसको कभी मरना नहीं पड़ता है ।

———

(५२)

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै,
तेज पुंज तहाँ प्रान उतारैं ।।
पाती पच पहुप करि पूजा,
देब निरंजन और न दूजा ।।
तनमन सीस समरपन कीन्हां,
प्रगट जोति तहाँ आतम लीनां ।
दीपक ग्यांन सबद धुनि घटा,
परं पुरिख तहाँ देब अनंता ।।
परम प्रकास सकल उजियारा,
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ।।

शब्दार्थ—पाती पंच=पाँच पत्तियों के रूप में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ। सबद=अनहद नाद ।

प्रसंग—जिस प्रकार अन्य सम्प्रदायों में भगवान् की पूजा आदि के अन्त में उनकी आरती उतारी जाती है उसी प्रकार अपनी पदावली के इस अन्तिम पद में कबीरदास जी ने भी एक विलक्षण आरती का वर्णन किया है ।

भावार्थ – कबीरदास जी कहते हैं कि साधक को अपने इष्टदेव की निम्नोक्त ढंग से ऐसी आरती उतारनी चाहिये जिससे कि परम ज्योतिस्वरूप ब्रह्म उसको अवश्य दर्शन दें। पाँचों इन्द्रियों को पाँच पत्तियों के रूप में और मन को एक सुमन के रूप में लेकर एकमात्र निरंजन देबाधिदेव की पूजा करनी चाहिए । इसके अनन्तर उस परम ज्योति पर अपने शरीर, मन और शीश को समर्पित करके वहाँ आत्मा को पूर्णरूपेण लीन कर देना चाहिये । इसके उपरान्त ज्ञान का दीपक लेकर अनहद नाद के घंटे के शब्द करते हुये उस परम पुरुष के दर्शन करने चाहिये । वास्तव में तो वही परम पुरुष इस सृष्टि में परम देवता है। उसी परम ज्योति के प्रकाश से यह सारा संसार प्रकाशित है और कबीरदास जी का कहना है कि मैं भी उसी परम पुरुष का दास हूं ।

———